त्रितिभा



शकुन्तला सेठ

त्रिविभा

शकुन्तला सेठ

प्रकाशक एवं लेखक :
शकुन्तला सेठ

संस्थापिका—'सरस्वती सेठ'
प्रकाशन—जम्मू

प्रथम संस्करण :
मार्च 1997
C : लेखिका
मूल्य—60/-

प्राप्ति स्थान :
125, कूचा भोलानाथ,
धौंथली बाज़ार, जम्मू ।

मुद्रक :
सेठी आर्ट प्रिन्टर्ज़
सुभाष नगर, जम्मू ।

आवरण :
सुभाष आनन्द

समर्पण

माँ सरस्वती के चरणों में
पूजा फूल

झरी तूलिका से कुछ बून्दें
भावों के रंगों की
छितराईं सूखे पत्तों पर
बिखरे धूलि कणों सी

मेरे मन अबोध बालक ने
फूल समझ कर इन को
वीणापाणि की पूजा में
धरा चरण पूजन को

माँ रीझेगी या खीझेगी,
सोच-सोच घबराऊँ।
शिशु हठीले मन की निष्ठा,
देख-देख मुस्काऊँ।

श्री सरस्वत्यै नमः

भूमिका

हिन्दी साहित्य का इतिहास बड़ा विशाल है। मुख्यरूप से आधुनिकता के सन्दर्भ में इसके तीन मुख्य युग बीत चुके हैं। भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा निराला, पन्त, महादेवी—युग।

इस लेख की नायिका सुश्री शकुन्तला सेठ उसी स्वतन्त्रता-पूर्व हिन्दी साहित्य लेखन की परम्परागत शैली की राज्यस्तरीय प्रतिनिधि थी। सुश्री सेठ की हिन्दी साहित्य लेखन यात्रा उन के अध्ययन काल में ही फुटकल लेख, कविता और कहानी पर लेखनी चलाते हुए प्रारम्भ हुई। 1942-43 में इन्होंने जम्मू से 'उषा' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी प्रारम्भ किया, जिससे जम्मू कश्मीर के अतिरिक्त भारत के अनेक प्रान्तों में इस राज्य की हिन्दी साहित्य गतिविधियों का संदेश गूंजने लगा। 'उषा' तीन वर्षों की उम्र काटकर ही अस्त हो गई किन्तु शकुन्तला जी की साहित्य साधना में कोई अन्तर नहीं आया। अध्ययन और लेखन इनके जीवन का अंग बन चुका था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर इनका स्वर कविता और निबन्ध के क्षेत्र में यदा-कदा गूँज जाता था। किन्तु इनकी रचना के प्रौढ़ काल ने दो तीन दशक पश्चात् पुनः अंगड़ाई ली, जिसके

फलस्वरूप इनके तीन कविता संग्रह : 'सरसिज', 'समय धारा' और 'उजास' छप चुके हैं। कविता की दृष्टि से इनके ये संग्रह स्वतन्त्रता-पूर्व के अन्तिम युग—यानि महादेवी वर्मा युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन कविताओं में मुख्यतया इनका आध्यात्मिक, सामाजिक और अनन्त के प्रति विरह वेदना का स्वर मुखरित हो रहा है। स्वाभाविक भावधारा और कल्पना की उड़ान का रंग गहरा होकर महादेवी वर्मा की अन्तर्वेदना का स्पर्श करने लगता है।

प्रस्तुत "त्रिविभा" लेखिका की नई रचना नया संदेश लेकर अवतीर्ण हुई है। इस का प्रथम अध्याय : 'प्रार्थना के स्वर' लेखिका के एकान्त क्षणों में हृदय से निस्सृत विविध भावुक उद्गारों से ओतप्रोत हैं। प्रारम्भ के "कौन ?" "नक्षत्रों क्या तुम देखोगे ?" लेखों में लेखिका ने अपने प्रिय की प्राप्ति की तड़पन अभिव्यक्त की है, किन्तु यह "प्रिय" लेखिका के शब्दों से स्पष्ट ही भगवान् है, कोई हाड़माँस का पुतला नहीं। इन लेखों में वैराग्य व समर्पण की भावना ही व्यक्त हुई है। "पाहिमाम्" लेख में संसार की अनित्यता समर्पण के साथ अपने दार्शनिक विचारों को लिखते हुए आत्मस्वरूप के दर्शन कराने की प्रार्थना ईश्वर से की गई है। किन्तु आत्मदर्शन स्वयं अन्तर्मुखी चिन्तन द्वारा ही मिलता है। "त्रायस्वमाम्" लेख में अबोधपन और प्रेमपीर के उद्गार हैं। भगवान् को अनेक नामों से सम्बोधित किया है— हे पतित-पावन ! हे करुणार्णव आदि। ऐसा लगता है कि लेखिका जीवन से अत्यन्त थक चुकी है, उसे संसार की कोई वस्तु नवीन नहीं लगती, केवल प्रिय भगवान् नवीन होकर उसकी हृदयस्थली में उतरे हैं। उनके प्रति अबोधभाव में आत्म-समर्पण, आत्म-निवेदन और आत्म-आकुलता में लेखिका अत्यन्त खो गई है,

मीरा की भाँति।

"जीवन सत्यदर्शन" लेख में लेखिका के हृदय की गहराइयों से जो चिन्तन प्रस्फुटित हुआ है उसमें जीवन की वास्तविक स्थितियाँ भली प्रकार उभरी हैं। जीवन सब ओर से विवश है। इसमें निराशा है, नियति के खेल की परतन्त्रता है, सुख की चाह में दुःख है, फूल में काँटा है, हँसी में रोना है। केवल शान्ति है कर्त्ता भोक्ता के अभिमान के त्याग में। जीवन का अध्यास, अन्तर्द्वन्द्व, विश्वासों का तिरोहन, प्रश्नों की शृङ्खला आदि जीवन का वास्तविक रूप नहीं देखने देते। सांसारिक प्रलोभन, वासना, आशा, तृष्णा आदि दोष मनुष्य को ईश्वर तक नहीं पहुँचने देते। भगवत्कृपा के बिना आत्मज्ञान नहीं मिलता। इस प्रकार से दार्शनिक उद्‌गार प्रस्तुत लेख में देखे गए हैं।

इस रचना के सभी लेख अति संक्षिप्त और भावपूर्ण हैं। इन में भावभीनी भावुकता प्रकट हुई है। "जीवन सत्य दर्शन" में जीवन की व्याख्या, अन्तर्दर्शन, वेदान्त का अध्यास व माया आदि तत्त्वों का चिन्तन पर प्रभाव है। इस विचारधारा से लेखिका के विशाल अध्ययन और चिन्तन का पता चलता है।

"चिन्तन" अध्याय में 'चरित्र धर्म की मूलभित्ति' लेख की व्याख्या बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। लेखिका के मत में प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण ही चरित्र है। मन की भावनाओं के शुद्धिकरण में ही चरित्र का विकास होता है। मन की मलिनता में सब कुछ मलिन है। लेखिका का यह चिन्तन भी मार्मिक है कि "नदी की अवरुद्ध जलधारा के समान बलात् नियन्त्रित की गई प्रवृत्तियाँ अपना समुचित मार्ग न पाकर गलत रास्ते का अनुसरण कर लेती हैं।"

'शान्ति का स्रोत कर्म'— लेख में लेखिका ने कर्म द्वारा शान्ति प्राप्त होने का संदेश दिया है। कर्म से अभिप्राय यहाँ निःस्वार्थ और निःसंग होकर कर्म करने में है।

'आत्मिक सौन्दर्य' —लेख में शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की महत्ता सिद्ध की गई है। इस सम्बन्ध में उपनिषद् के मंत्र का उद्धरण भी दिया है।

'संकल्पात्मकमिदं जगत्'— लेख में संकल्प से बड़े से बड़ा कार्य सिद्ध होने की बात मुक्तिपूर्वक कही गई हैं।

'मानसिक रोग आलस्य'— लेख में सब बुराइयों और आपदाओं का मूलकारण आलस्य को सिद्ध किया गया है। लेखिका के मत में पुरुषार्थ आत्मा का गुणा है। क्रिया का सम्पादन कर्म इच्छा और ज्ञान से होता है। प्रस्तुत लेख में अनुभूति और चिन्तन दोनों साथ-साथ चले हैं।

'अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः'—पुरुष किस के द्वारा प्रेरित होकर पाप करता है। गीता के अनुसार मन की चंचलता ही कुकर्म करवाती है, लेखिका द्वारा व्यक्त किया गया यह तथ्य भी समुचित है।

'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्'— लेख में प्रेम की आदर्श व्याख्या की गई है, जिस में दाम्पत्य प्रेम को महत्त्व दिया गया है परन्तु तत्त्व दृष्टि से यह भी अमृत में विष के समान ही है अतः लेखिका की प्रेम व्याख्या शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव की कोटि में आकर आध्यात्मिक तत्त्व का स्पर्श करती हुई दिखती है।

'संसार'— निबन्ध में संसार को स्वप्न ही सिद्ध किया गया है। प्राण भी जल बुद्-बुद् की भांति ही प्रकंपित हो रहे हैं। संसार की कोई वस्तु स्थायी नहीं। इस निबन्ध की भाषा सबल

और लाक्षणिक है। विचार मौलिक और अनुभूतिपूर्ण हैं।

'स्वस्थ शरीर स्वस्थ आत्मा परम आनन्द'— निबन्ध का रूप शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है। लेखिका ने इस में प्रकृति की सुन्दर व्याख्या करते हुए सिद्ध किया है कि सांसारिक पदार्थों में आस्था ही दुःख का कारण है उन में अनास्था ही परमानन्द का हेतु है।

'सत्य भाषण'— लेख में ईश्वर की व्याख्या तथा सत्य की महिमा पर मीराँ, तुलसीदास तथा गीता के प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्', वाणी की शक्ति, तप सुखप्रद दुःखदोष नसावा, मनुष्य- दो रूप, पूर्ण समर्पण आदि निबन्धों के शीर्षकों से ही इनकी उपादेयता स्वयं प्रकट हो जाती है।

इन सब लेखों की प्रेषणीयता की दृष्टि से तो रोचकता है ही किन्तु यह सब कुछ भारतीय संस्कृति, मर्यादा और आर्य एवं वैदिक धर्म के परिप्रेक्ष्य में जो मानसिक भावों की अभिव्यक्ति की गई है वह अवश्य ही आज की जनता तथा विशेष कर युवा पीढ़ी के लिये उपादेय है। भारतीयता, आदर्श, मर्यादा, चिन्तन, राष्ट्रीयता तथा भगवत्प्रेम के सन्दर्भ में तो यह लेखावली अपनी अलग, सुन्दर पहचान प्रस्तुत करती है।

<u>"काव्य सरिता"</u> अध्याय के अन्तर्गत लेखिका की कविताएँ उपन्यस्त की गई हैं। हिन्दी कविता के क्षेत्र में इन के चार पाँच कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिससे इस क्षेत्र में इनकी एक अलग पहचान और प्रस्थापना बन चुकी है। आप की स्वर लहरी में एक भावुकता और शब्दों में एक आकर्षण तथा

गंभीर कल्पना की उड़ान ओत-प्रोत रहती है। कविता में स्वाभामिक भावनाओं का प्रवाह अपना मार्ग स्वयं बनाता चलता है। भावाभिव्यक्ति, व्यन्जत्रा, संप्रेषण, चित्र-विधान और लाक्षणिकता की चमक सतत प्रवाहित हुई है। इनकी कविता में यथार्थ और आदर्शवाद के साथ आध्यात्मिक तत्व अधिक उभर पाए हैं। इन तत्त्वों को काव्य की लाक्षणिक भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। मानसिक भावों की मौलिकता के साथ काव्य-उपकरणों का सुन्दर उपयोग हुआ है जैसे :

रूप ज्योस्ना शीतल जल से
निज मन शिशु को नहलाऊँगी
पावन प्यार परस के भोला
आँख मूंद कर सो जाएगा
एक रोज निश्चित आएगा।

कविता में जो आध्यात्मिक रस बह रहा है, उस में आशा की किरण कवयित्री को वास्तविक धरातल पर ले आती है। इसी कारण इस एकान्त संगति में प्रकृति सौन्दर्य भी फूट निकला है। अँधकार से प्रकाश की ओर जाने की ललक के साथ प्रिय (भगवान्) से एकाकार की आशा भी बीच में लहरा रही है। जैसे

मुस्काएँ कलियाँ हँसें फूल प्यारे।
मधुर हास ऊषा का जब नभ में छाए,
परम जोत में फिर मिले दीप जोति।
यही नाश की है अनश्वर कहानी।

कवयित्री का विरह वर्णन भी प्रकृति की सुकर छाया में मुखरित हो उठा है। घनघोर बादल गर्ज-तर्ज कर चंचल चपला के साथ रिमझिम करता है। प्रकृति पर हरियाली का यौवन छा जाता है। कवयित्री इसी में मुग्ध-मस्त जैसी आपे को भूल

जाती है। सोचती है उस छलिये की क्रीड़ा, जिसने ब्रह्माण्ड में ऐसी उथल पुथल मचा रखी है।

मैं जड़ बैठी निज में खोई
उर की भूली पीड़ा
जान न पाई उस छलिये को।
जिस की थी यह क्रीड़ा।

उस छलिये की गति खिले फूल में, लता के प्रकम्पन में, हवा की थिरकन में और नदी की लहर में निरन्तर बह रही है। वह छिप-छिप कर कवयित्री को बुलाता है किन्तु कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। कवयित्री पगली जैसी उसे बन-बन में ढूँढ़ती है। इस स्थल पर वह दूसरी मीरा जैसी लगने लगती है। हृदय का अगाध विरह और उत्ताप कवयित्री को दिन रात सता रहा है। किन्तु इस मीठी पीड़ा में छिपे एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति है।

इस प्रकार कविता के माध्यम से कवयित्री ने अन्तर्तम के सरस भावों को जिस रुप में प्रेम-पीर भरी भावुकता की लड़ी में पिरोया है, वह हिन्दी कविता साहित्य को एक सरस और नयी उपलब्धि प्रदान करता है।

'गद्य गीत'— आधुनिक हिन्दी की प्रयोगवादी अतुकान्त स्वच्छन्द तथा छन्द हीन कविता की शृङ्खला में भी सुश्री शकुन्तला सेठ ने अपना अच्छा स्थान बना लिया है, जिसका प्रमाण प्रस्तुत रचना के एक भाग में उपन्यस्त कुछ कविताएँ हैं। इस भाग की प्रथम कविता (गद्य-गीत) 'मृत्यु' एक दार्शनिक, गम्भीर और चिन्तन प्रधान रचना है, जिसमें कल्पना, दृश्य विधान और लाक्षणिक प्रयोगों का गहरा रंग निखरा है, जैसे :

तू आती है तपती दोपहरी को
अपने में समेट ... ...
तेरे बढ़ते कदमों की आहट
सुनता है कोई मनीषी योगी यति !
... ...
पर माँ काली और भैरव बाबा की पूजा
है संहार में छिपे सृजन के प्रति
श्रद्धा की अभिव्यक्ति !

इसी प्रकार 'नाविक और नौका' में जीवन, मृत्यु और कर्म, इन तीनों का दार्शनिक रहस्य रूपकालंकार के माध्यम से जो अभिव्यक्त किया गया है, उसमें कवित्व शैली का चमत्कार उभर कर आया है। हिन्दी की इस नई कविता धारा में दार्शनिक अभिव्यक्ति विशेष रुप से एक नवीन विधा का सृजन है। 'आह्वान' कविता में क्रान्ति का तुमुल नाद है। 'मुखौटे' कविता में छिपे चेहरों की वास्तविकता की अनुभूति सब कुछ गंवा कर होती है। इस भाव को व्यङ्ग्यात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। 'एक सवाल आप से' शीर्षक की कविता में आज के अनाथ शिशुओं की करुण कहानी का आर्द्र और द्रवित कर देने वाला चित्र खींचा गया है, जो वास्तविकता को साकार रूप देता है। इस कविता में किसी घटनाक्रम का जीता जागता चित्र खींचने की कला का पर्याप्त प्रस्फुटन हुआ है, जो अधिक सामयिक है। इस में स्वाभाविक भावधारा और सम्वेदना का सुन्दर समन्वय है। लाक्षणिक प्रयोग, व्यङ्ग्यात्मक उक्तियाँ, रूपक तथा चित्र विधान अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं जैसे :

क्या देखी हैं कभी आपने इन की भोली आँखें... ... ...
भूख की ज्वाला को पलकों में समेट

निराशा के धुँधलके में भटकतीं !
झाँका है कभी आपने इन के आशा विहीन मन में

... ...

जलती है जहाँ हर पल
अरमानों की होली ! ... ...
राख से ढका ज्वालामुखी अपने अवरुद्ध लावा से
सोखता रहता है जहाँ जीवन का रस !

किसी वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करने की कला लेखिका की लेखनी ने खूब प्रदर्शित की है। यह भी इनकी रचनाओं की एक बड़ी विशेषता है।

सुश्री शकुन्तला सेठ, निराला और महादेवी के युग का प्रतिनिधित्व करती हुई आज के अज्ञेय, दुष्यन्त सक्सेना, नरेश मेहता, गिरिजा कुमार माथुर आदि हिन्दी की नवीन धारा के कवियों के युग का भी प्रतिनिधित्व एक साथ करने लगी है। यह पिछली पीढ़ी के कवियों की पीढ़ी की एक ऐसी लेखिका हैं, जो पिछली और अगली, दोनों पीढ़ियों के सेतु का कार्य कर रही हैं। इनकी भाषा में लोच, भावों में गहराई, अनुभूति में सम्वेदना और शैली में मँजी हुई कला है। हिन्दी जगत् को ऐसी साहित्य-कर्त्री पर गौरव होना चाहिए। इनकी प्रस्तुत रचना त्रिविभा में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ मैंने देखीं हैं। मुझे आशा है कि यह पुस्तक विज्ञ पाठकों की प्रिय होगी तथा यथोचित सम्मान प्राप्त करेगी।

—गंगादत्त शास्त्री
23, मोहल्ला पहाडियाँ
केसरी कुटीर, जम्मू तवी।

अपनी बात

जब सृष्टि कर्त्ता मेरी जीवन पुस्तिका का उपसंहार लिख रहा है तो सोचा मैं भी क्यों न अपने लेखन के कुछ बिखरे पन्नों को समेट कर उस अध्याय में थोड़ी वृद्धि कर दूँ ! बहुत वर्ष पहले, शायद पचास-पचपन वर्ष पहले, एकान्त में प्रभु से बातें किया करती थी और कभी-कभी उन बातों को काग़ज़ पर भी उतार देती थी। उन्हीं में से समय की धूल से बचे पृष्ठों को इस पुस्तक में 'प्रार्थना के स्वर' अध्याय के अन्तर्गत रखा है। ये मेरे स्वर किसी भी आकुल विह्वल हृदय के उद्‌गार हो सकते हैं और 'वह मेरी अनुभूतियों में मग्न हो आनन्द प्राप्त कर सकता है।

'चिन्तन' अध्याय के अन्तर्गत लिखे अधिकतर लेख भी आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व, लेखन यात्रा में कविता के कोमल चिकने पथ से हट कर, कभी-कभार जीवन की सच्चाइयों के किसी एक पत्थर पर बैठ, किए गए चिन्तन की उपलब्धियों के रेखा चित्र जैसे हैं। इन चित्रों की रेखाएँ कितनी गहरी, कितनी उथली हैं इसका निर्णय तो विद्वान् पाठक ही करेंगे।

'काव्य सरिता' शीर्षक अध्याय में लिखी कविताएँ इसी दशक की हैं। इन में सामयिक समाज के सुन्दर एवं भयावह स्वरूप का चित्रण है। जीवन की लम्बी यात्रा में ऊबड़-खाबड़ रास्तों, तंग पगडण्डियों और विशाल राजमार्गों पर चलते हुए जो देखा, सुना, अनुभव किया, उससे प्राप्त हुए दृष्टिकोण के आधार पर आज के युग की अनुभूतियों को अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार इस पुस्तक के पन्नों पर उकीर्ने का यत्किंचित् प्रयास किया है।

मैं जो देखती और अनुभव करती हूँ उसे बिना किसी आयास के काग़ज़ पर धर देती हूँ। इसे मेरे स्वभाव का गुण कहें या अवगुण यह आपकी मर्जी पर निर्भर करता है, पर सच्चाई है कि मैं भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा में शब्दों का चयन और शैली में अलंकारों एवं छन्दों को ढूँढ-ढूँढ कर लाने का प्रयास नहीं करती। लेखनी जैसे चलती है, उसे वैसे ही चलने देती हूँ। अगर मेरी अभिव्यक्ति में कहीं सौन्दर्य दिखे तो उसे माँ सरस्वती की कृपा का प्रसाद समझें और दोष एवं त्रुटियाँ मेरी अज्ञता का परिणाम तो हैं ही।

मानव-मन बड़ा चंचल है और उसकी अनुभूतियाँ अति विचित्र! कल जो दृश्य, व्यक्ति अथवा वस्तु आनन्ददायी थी आज वही कष्ट-कर एवं दुखदायी प्रतीत होती है। कविता अन्तर्मन की अनुभूतियों का शब्दमय चित्र ही तो है अतः मनोदशा का परिवर्तन कविता में प्रतिबिम्बित हो कर अभिव्यक्ति में भावों की परिवर्तनशीलता को अभिव्यंजित करता है। लेखक आस्थावान् है या आस्थाविहीन, वह समाज के प्रति सहिष्णु है या विद्रोही, वह भविष्य के प्रति आशावादी है या निराशावादी, किसी रचना को एक नज़र में पढ़ कर, लेखक के विचारों और विश्वासों के प्रति कोई

दृढ़ धारणा बना पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि लेखक की रचना में उसका व्यक्तित्व, कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित अवश्य होता है। सूक्ष्मद्रष्टा मनीषी समालोचक उसे खोज लेने में भूल नहीं करता।

सरस्वती के वरद पुत्र डॉ० गंगादत्त शास्त्री 'विनोद'— शास्त्रवेत्ता, समाजशास्त्री, समालोचक, कवि, निबन्धकार, उपन्यासकार एवं कहानी-लेखक— जम्मू-कश्मीर राज्य के गिने-चुने हिन्दी लेखकों में से हैं। आपने हिन्दी साहित्य को साहित्य की प्रायः सभी विधाओं से समृद्ध किया है। आप का आध्यात्मिक चिन्तन आपकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा हुआ तो है ही, किन्तु "ब्रह्म-विवेचन" आपकी पुस्तक आपके गहन चिन्तन एवं निर्बाध अध्ययन का एक अद्भुत् ग्रन्थ है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेकों शोध लेखों एवं साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त आपकी बीस के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप चार दशकों से भी अधिक समय से साहित्य साधना में निरत हैं। आज कल आप देव-भूमि कुल्लू में अपनी आध्यात्मिक एवं साहित्यिक साधना में संलग्न हैं। ऐसे महान् मनीषी से अपनी छोटी सी पुस्तक के लिए अग्रलेख लिखने की स्वीकृति प्राप्त करने को मैं माँ भारती की अपार कृपा और अपना सौभाग्य मानती हूँ और शास्त्री जी के प्रति धन्यवाद सहित आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्त में मैं धन्यवाद देती हूँ श्रीमती सुशीला शर्मा को जिसने पाँच दशकों से भी अधिक पुराने भुर्जपत्र बने काग़ज़ों पर लुप्त हो रहीं मेरी रचनाओं का पुनर्लेखन से नवीकरन कर मुझे कृतार्थ किया है।

—शकुन्तला सेठ

'काव्य सरिता' शीर्षक अध्याय में लिखी कविताएँ इसी दशक की हैं। इन में सामयिक समाज के सुन्दर एवं भयावह स्वरूप का चित्रण है। जीवन की लम्बी यात्रा में ऊबड़-खाबड़ रास्तों, तंग पगडण्डियों और विशाल राजमार्गों पर चलते हुए जो देखा, सुना, अनुभव किया, उससे प्राप्त हुए दृष्टिकोण के आधार पर आज के युग की अनुभूतियों को अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार इस पुस्तक के पन्नों पर उकीर्ने का यत्किंचित् प्रयास किया है।

मैं जो देखती और अनुभव करती हूँ उसे बिना किसी आयास के काग़ज़ पर धर देती हूँ। इसे मेरे स्वभाव का गुण कहें या अवगुण यह आपकी मर्जी पर निर्भर करता है, पर सच्चाई है कि मैं भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा में शब्दों का चयन और शैली में अलंकारों एवं छन्दों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर लाने का प्रयास नहीं करती। लेखनी जैसे चलती है, उसे वैसे ही चलने देती हूँ। अगर मेरी अभिव्यक्ति में कहीं सौन्दर्य दिखे तो उसे माँ सरस्वती की कृपा का प्रसाद समझें और दोष एवं त्रुट्रियाँ मेरी अज्ञता का परिणाम तो हैं ही।

मानव-मन बड़ा चंचल है और उसकी अनुभूतियाँ अति विचित्र! कल जो दृश्य, व्यक्ति अथवा वस्तु आनन्ददायी थी आज वही कष्ट-कर एवं दुखदायी प्रतीत होती है। कविता अन्तर्मन की अनुभूतियों का शब्दमय चित्र ही तो है अतः मनोदशा का परिवर्तन कविता में प्रतिबिम्बित हो कर अभिव्यक्ति में भावों की परिवर्तनशीलता को अभिव्यंजित करता है। लेखक आस्थावान् है या आस्थाविहीन, वह समाज के प्रति सहिष्णु है या विद्रोही, वह भविष्य के प्रति आशावादी है या निराशावादी, किसी रचना को एक नज़र में पढ़ कर, लेखक के विचारों और विश्वासों के प्रति कोई

दृढ़ धारणा बना पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि लेखक की रचना में उसका व्यक्तित्व, कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित एवं प्रतिध्वनित अवश्य होता है। सूक्ष्मद्रष्टा मनीषी समालोचक उसे खोज लेने में भूल नहीं करता।

सरस्वती के वरद पुत्र डॉ० गंगादत्त शास्त्री 'विनोद'— शास्त्रवेत्ता, समाजशास्त्री, समालोचक, कवि, निबन्धकार, उपन्यासकार एवं कहानी-लेखक— जम्मू-कश्मीर राज्य के गिने-चुने हिन्दी लेखकों में से हैं। आपने हिन्दी साहित्य को साहित्य की प्रायः सभी विधाओं से समृद्ध किया है। आप का आध्यात्मिक चिन्तन आपकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा हुआ तो है ही, किन्तु "ब्रह्म-विवेचन" आपकी पुस्तक आपके गहन चिन्तन एवं निर्बाध अध्ययन का एक अद्भुत् ग्रन्थ है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेकों शोध लेखों एवं साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त आपकी बीस के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप चार दशकों से भी अधिक समय से साहित्य साधना में निरत हैं। आज कल आप देव-भूमि कुल्लू में अपनी आध्यात्मिक एवं साहित्यिक साधना में संलग्न हैं। ऐसे महान् मनीषी से अपनी छोटी सी पुस्तक के लिए अग्रलेख लिखने की स्वीकृति प्राप्त करने को मैं माँ भारती की अपार कृपा और अपना सौभाग्य मानती हूँ और शास्त्री जी के प्रति धन्यवाद सहित आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्त में मैं धन्यवाद देती हूँ श्रीमती सुशीला शर्मा को जिसने पाँच दशकों से भी अधिक पुराने भुर्जपत्र बने काग़ज़ों पर लुप्त हो रहीं मेरी रचनाओं का पुनर्लेखन से नवीकरन कर मुझे कृतार्थ किया है।

—शकुन्तला सेठ

अनुक्रमणिका

प्रार्थना के स्वर

चिन्तन

काव्य सरिता

प्रार्थना के स्वर

तू नहीं आया

पल - पल गिनते बीत गया जीवन
प्रतीक्षा की घड़ियाँ होती गईं लम्बी ।
पथ को निहारते आँखें थकीं,
पर तू नहीं आया !

मन की आकुलता को मन में समेट,
गुम - सुम बैठी रही शून्य में दृष्टि गड़ाये,
कानों में गूंजती रही तेरे पैरों की आहट,
पर तू नहीं आया !

मैं जड़ सी बैठी गुनती रही तेरे गीत,
सुनती रही मन में उठती विविध ध्वनियाँ,
न मन्दिर को बुहारा,
न विश्वास को नकारा,
रात के अँधेरे में दरवाजे की खटखटाहट,
भर गई पाँओं में गति, मन में चंचलता,
द्वार तक विछी दृष्टि ने देखा
कुछ नहीं था वहां अँधेरे के सिवा।
हवा का झोंका टिम - टिमा गया था दीप का उजाला
पर तू नहीं आया !

दीप जलता रहा, समय गलता रहा,
ठंडाती रही उसे आँसुओं की धारा,
गहरे से उठती एक ध्वनि ने कहा,
मैं वहाँ हूँ, मैं यहाँ हूँ, मैं हूँ तेरे अति निकट,
मुझे देखो, मुझे पहचानो, मैं तुम से भिन्न नहीं हूँ।
पर प्रतीक्षा कह रही थी
तू नहीं आया !

व्याकुल था मन आकुल थीं आंखें
तेरी एक झलक पाने को।
पर तू नहीं आया !

कौन ?

चांदनी रात, मंद-मंद खिले तारे, प्रिय की श्वास सुरभि सी माधव की मधुर समीर, दूध सी श्वेत सैकत शय्या पर अनन्त प्रतीक्षा में, क्लान्त सी पड़ी कालिन्दी लहरों के बहाने, रह - रह कर, उझक - उझक, किसी की पद ध्वनि सुनती ... ! दूर के संगीत की अव्यक्त मधुर ध्वनि ने सब की चेतना को हर लिया। सुन पड़ा — "कौन ?"

फिर क्या था, मस्ती का साम्राज्य !

सब ही तो दौड़े जा रहे थे। निशिनाथ अपने मृगों को तेजी से हांक रहे थे। कालिन्दी की गति में एक मधुर त्वरा भर गई थी। प्रकृति के हृदय की धड़कन प्रत्येक अणु - परमाणु में समा रही थी। कुंकुम और पराग की वर्षा करती हुई रात्रि, किसी आकुलता से भागी जा रही थी। उसके पूजा दीप माँ धरती अपनी सागर - लहरियों के आंचल की ओट से बुझने से बचा रही थी।

अरे...... यह क्या ? दर्शकों की भीड़ प्रिय की प्रिय-प्रतिमा का आवरण बन गई। हृदय मचल उठा, चेतना शिथिल हो गई। निशा रानी की पूजा की थाली छूट पड़ी और पूजा दीप महा - शून्य में बिखर गए। ज्योति के अनन्त सागर में विलीन होने वाले उन पूजा दीपों की ओर किसी का ध्यान

ही न गया, पर 'धूप' की धूम लहरियां मलयानिल की सुगन्धि बन सारे संसार में व्याप्त हो रही थीं। स्वर्णिम प्रकाश से स्नात जीवन - कुसुम उन चरणों में अर्पित था।

प्रश्न हुआ "कौन ?"

चेतना सोते से जग उठी।

मेरे देवता...! जिसके आवाहन के लिए शत - शत दैवी भावनाएँ मन - मन्दिर को सजाया करती हैं। पलकों के पाँवड़े चिरकाल से जिसकी पद - रज की प्रतीक्षा में हैं, जिसकी अभ्यर्थना में प्राण-चंवर दिन रात डुल रहा है। स्नेह-आंसुओं से पूर्ण आँखों के दीपक नित्य ही जिसका पथ आलोकित कर रहे हैं, मेरे जन्म - जन्म के देवता! अपनी पुजारिन का परिचय चाहते हैं!

मेरे प्रियतम! जन्म–जन्म के साथी! तुम भूल कर भी नहीं भूलते। जीवन के प्रभात में तुम्हारा ही मधुर आलोक! दोपहरी में तुम्हारे ही प्रखर प्रकाश की मस्ती! सन्ध्या की गोधूलि में तुम्हारी ही तो ममता लिए हूँ।

मेरी माँ! तेरे ही अंश से जीवन धारण किया है। तेरे स्तनों का दुग्ध पान करने की स्पृहा आज भी जिह्वा को निरन्तर बनी है। तेरी गोदी का सुखद साम्राज्य पाने के लिए शत - शत बार मर कर भी जीने की इच्छा होती है। माँ...अपने ही शिशु से पूछती हो "कौन ?"

मेरे प्रभु! मेरे प्रियतम! मेरे देवता! अपनी पुजारिन से पूछते हो, "कौन ?"

"नक्षत्रो ! क्या तुम देखोगे ?"

"नक्षत्रो ! क्या तुम देखो गे उषा की लाली क्या है ।
संकल्प भरा है उन में सन्देहों की जाली क्या है ?"—प्रसाद

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥—कबीर

सन्ध्या की गोधूलि में अनुराग की लालिमा बिखरी। नभ का अनन्त पथ स्वागत की प्रतीक्षा में शतशः दीपों से जगमगा उठा ।

प्रतीक्षा के क्षणों ने आकुला दिया मन। हृदय-वीणा की करुण ध्वनि—"बीत गई सन्ध्या की वेला राजरथ उनका न आया"-कानों में प्रतिध्वनि बन गूंज गई और मन धीरे 2 नभ की मूक नीलिमा में डूब गया।

रात कब बीती, कौन जाने!

प्रभात की शीतल वायु के मृदु स्पर्श से चेतना जाग उठी।

आकाश में पुनः लालिमा छा गई। नभ पथ के लघु दीपों को इस लालिमा ने कब अपने वक्ष में छिपा लिया, मैं देख ही न पाई!

क्या वह लघुदीप इस लालिमा को जी भर देख पाए होंगे? कह नहीं सकती, किन्तु प्रकृति के कमल-नयनों में उस मधुर मिलन का आनन्द ओस बिन्दु कर झलक रहा था।

प्रभो! इस मधुर मिलन की प्रतिकृति मेरे जीवन में कब उतरेगी? यूं ही तो बीता जा रहा है जीवन!

तृषित मन एक पल के लिए भी तो विश्राम नहीं लेता।

लालसाओं की प्यास प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है, जीवन का यह भार अब ढोना कठिन हो रहा है।

मन! एक बार गा दो:—

"जीवन का मैंने सौंप दिया
सब भार तुम्हारे हाथों में।"

तू ही तू

प्रभो.........!

मन न जाने कहाँ कहाँ घूमा करता है। घूमना बुरा नहीं, पर विस्मृति बुरी है। रोज़ ही गाती हूँ "मैं भूल न जाऊँ राह तेरा...। तेरा राह तो क्या, मैं अपना राह भी भूल जाती हूँ। यह मन शरीर से ऊपर उठता ही नहीं। शरीर में भी हृदय तक बड़ी देर के बाद कभी कभार कुछ क्षणों के लिए आता है। 'कोई' प्रत्येक क्षण मन को अन्तर ही अन्तर समझाता रहता है, जिससे कुछ समय के लिए मन का क्षोभ अवश्य कम होता है। पर... मेरे स्वामी...! कारण, कर्त्ता और कार्य तो आप हैं, फिर मन 'मैं' के अभिमान में क्यों उलझता है!

बात चीत में आप ने ही कोई अच्छा सुझाव दे दिया तो यह मन उसे अपनी सूझ मान, फूल कर कुप्पा हो जाता है। प्रायः मन अन्तरात्मा की बात अनसुनी करके छाया को सत्य मान कर सुखी या दुखी होता रहता है। छाया से सत्य की आशा कर उसके पीछे भागता है।

हे नारायण...! विश्व रूप तो आप ही है। आप से भिन्न तो कुछ भी नहीं। यह सारा संसार अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही तो है, पर यह मन नारायण को भूल कर नर को अपना भाई, बन्धु, पुत्र, पिता, पति समझता है। हे देव...! नर भी आप हैं, नारायण भी आप हैं,

हे आनन्द घन! हृदय में आनन्द की वर्षा कर अपने प्रेम से मुझे सिक्त कर दो। प्रभो! तेरे सिवा सृष्टि कुछ भी नहीं। सर्वत्र तू ही तू है। तुम्हीं सब हो नाथ...!

आकांक्षा

प्रभो ! तेरे अनन्त प्रकाश में निजत्व को खो देने के लिए मन व्याकुल हो गया है। तेरा ही एक किरण कण तुम से दूर..., कैसी है विडम्बना ..!

प्रभात का आलोक, सन्ध्या की लालिमा मन को विह्वल कर देती हैं।

चेतना का प्रभात, मिलनकी सन्ध्या मेरे लिए निष्प्रयोजन से दिखते हैं।

एक दिन भी तो प्रभात की लालिमा मुझे रंग न पाई।

सन्ध्या की गोधूलि में मेरी ममता क्यों विलीन नहीं हो जाती !

मेरे प्रियतम ..! मिलन-निशा का प्रथम पहर ही विछोह छिपाए आता है।

सृष्टि का प्रत्येक परमाणु तेरे प्यार से पसीज गया है, पर मेरा हृदय ही एक ऐसा पाषाण है, जो तेरे प्यार में भीग कर भी सिक्त नहीं होता।

दूर क्षितिज में..., बादलों की कालिमा को सुनहरे रंग में रंगा देख हृदय मचल उठता है, वेदना की मीठी मसलन गुदगुदी सी पैदा करती है। तुम्हें पाने को आकुल मैं भूल जाती हूँ अपने को...।

रात्रि की गहन कालिमा को चीर कर जगमगाने वाले तारों को अनन्त प्रतीक्षा के बाद उषा की लालिमा में छिपते देख तेरे अनुग्रह पर मुग्ध हो जाती हूँ। कालिमा से जन्म ले कर भी दिव्य प्रकाश को पाने वाले तारों के सदृश कभी मुझे भी अपना लो गे ?

मेरे राम ...!

पाहि माम्

क्या यह संसार सत्य ही धोखा है ? नहीं..., धोखा नहीं। यह तो धोखे की भी छाया है जो एक क्षण दिखाई देती है, तो दूसरे ही क्षण लोप हो जाती है। हे देव ! तुम मुझे इस धोखे में क्यों धकेलते हो ?

मेरे प्रभो ! मैं बहुत मूढ़ हूँ, तेरे सिवा मुझे कोई भी अपना नहीं बनाता। क्या तुम भी मेरी मूढ़ता से डरते हो ? प्रभो ! अब तो और कोई ठौर नहीं। ठोकरें लगाओ..., पावों से धकेलो, दूर रहो या नज़दीक.. , मुझे तो कहीं जाना नहीं। सारी दुनिया देख ली। सब स्वार्थ के नाते हैं। मिथ्या से प्यार कर सत्य से दूर भाग गई मैं ! सत्य का मार्ग कौन सा है, क्या बता दोगे ?

आचार की शुद्धता ही सब कुछ है, यह तो समझ गई, पर यह तो किसी साधना का परिणाम लगती है। "पवित्राणां पवित्रं यः" क्या उसे पा कर आचरण शुद्ध नहीं हो जाता ? अथवा आचार को शुद्ध बना लेने पर वह "पवित्र" स्वयमेव प्राप्त हो जाएगा। समाधि, प्राणायाम, योग, सब क्या हैं ? क्या ये सब तुम्हें पाने के साधन हैं ? कौन बता देगा ? आत्मा अकर्त्ता है, सुख दुख से ऊपर है, आत्मस्वरूप का दर्शन करवा कर कर्म-फल सुख-दुख से ऊपर उठा दो प्रभो !

पाहि माम् ..., पाहि पाम् , पाहि माम्।

त्रायस्व माम्

हे देव! आज तुम्हें बुलाते संकोच हो रहा है, किस तरह सम्बोधन करूँ! उदास मन तुम से बातें कर अपने को बहलाना चाहता है।

प्रभो! आओ...। कुछ समय के लिए मेरी करुण कहानी सुन लो।

मन में एक आकुलता है, एक अभाव..., एक सूनापन...। मैं क्या चाहती हूँ, मैं नहीं जानती। जप, तप, ध्यान... कुछ भी तो नहीं जानती। संयम का भी नाम सुन रखा है, जीवन में इसका क्या स्थान है, तुम्हीं जानते हो।

बस... तुम्हारी शरण हूँ, तुम्हारे रास्ते पर चलना चाहती हूँ। दयानिधे! हृदय की धड़कन में तुम्हें पाना चाहती हूँ मार्ग तुम्हीं बता दो...।

आँखें... सारा दिन जो चल - चित्र देखा करती हैं, उनमें तुम्हारी स्थिर मूर्त्ति बसा लूँ।

खाने-पीने और सोने-जगने से उकता गया है मन... ।
व्यर्थ बीत रहा है जीवन.. ।
इन क्षणों को सार्थक करो देव... !
आत्म-दर्शन को परम धर्म कहा गया है। आत्मदर्शन कैसे हो ?
मैं तो कुछ भी नहीं जानती, तुम्हीं बताओ ना...।
देव ! तुम्हें सब भक्त-वत्सल कहते हैं।
हे करुणार्णव ! जो भक्त नहीं, पर एकान्तिक-भक्ति की तुमसे याचना करता है, उसकी याचना-पूर्ण पुकार तुम सुन पाते हो ना ! फिर मेरी मानस-कुटीर अभी तक सूनी क्यों है ? तुम्हारे द्वार पर याचकों की भीड़ लगी है, तुम सब को खुले हाथों अभीष्ट दिए जा रहे हो। हे स्वामिन्... ! इस दासी की, जो केवल दर्शन ही करने आई है, कभी बारी आएगी ?

हे पतित-पावन ! तुम्हारा नाम जनम-जनम के पापों का नाश करने वाला है। हे मेरे नाथ... ! दर्शन पाकर यह दासी परम-पावन हो जाएगी। भिलनी, अहिल्या, गणिका, सदना, इत्यादि भक्तों का स्मरण मुझे ढाढ़स दिए है। हे अघ खण्डन ! सूर्य के उदय होने पर अन्धकार कहाँ रहेगा ! हे प्रभो... ! मुझे अपना लो। "दीन शरण हूँ, नाथ तिहारी" ! हे नाथ ! मुझे शुद्ध-बुद्ध तेज-रूप कर दो। मेरे देव... ! अब न ठुकराओ। अशरण-शरण... ! शरण दो।

श्री कृष्ण, विष्णो ! मधु कैटभारे !
भक्तानुकम्पिन्, भगवन् मुरारे !
त्रायस्व माम्...
त्रायस्व माम्... !

त्रायस्व माम्

हे देव! आज तुम्हें बुलाते संकोच हो रहा है, किस तरह सम्बोधन करूँ! उदास मन तुम से बातें कर अपने को बहलाना चाहता है।
प्रभो! आओ...। कुछ समय के लिए मेरी करुण कहानी सुन लो।

मन में एक आकुलता है, एक अभाव..., एक सूनापन...। मैं क्या चाहती हूँ, मैं नहीं जानती। जप, तप, ध्यान... कुछ भी तो नहीं जानती। संयम का भी नाम सुन रखा है, जीवन में इसका क्या स्थान है, तुम्हीं जानते हो।

बस... तुम्हारी शरण हूँ, तुम्हारे रास्ते पर चलना चाहती हूँ। दयानिधे! हृदय की धड़कन में तुम्हें पाना चाहती हूँ मार्ग तुम्हीं बता दो...।
आँखें... सारा दिन जो चल - चित्र देखा करती हैं, उनमें तुम्हारी स्थिर मूर्त्ति बसा लूँ।

खाने-पीने और सोने-जगने से उकता गया है मन... ।
व्यर्थ बीत रहा है जीवन.. ।
इन क्षणों को सार्थक करो देव... !
आत्म-दर्शन को परम धर्म कहा गया है। आत्मदर्शन कैसे हो ?
मैं तो कुछ भी नहीं जानती, तुम्हीं बताओ ना...।
देव ! तुम्हें सब भक्त-वत्सल कहते हैं।
हे करुणार्णव ! जो भक्त नहीं, पर एकान्तिक-भक्ति की तुमसे याचना करता है, उसकी याचना-पूर्ण पुकार तुम सुन पाते हो ना ! फिर मेरी मानस-कुटीर अभी तक सूनी क्यों है ? तुम्हारे द्वार पर याचकों की भीड़ लगी है, तुम सब को खुले हाथों अभीष्ट दिए जा रहे हो। हे स्वामिन्... ! इस दासी की, जो केवल दर्शन ही करने आई है, कभी बारी आएगी ?

हे पतित-पावन ! तुम्हारा नाम जनम-जनम के पापों का नाश करने वाला है। हे मेरे नाथ... ! दर्शन पाकर यह दासी परम-पावन हो जाएगी। भिलनी, अहिल्या, गणिका, सदना, इत्यादि भक्तों का स्मरण मुझे ढाढ़स दिए है। हे अघ खण्डन ! सूर्य के उदय होने पर अन्धकार कहाँ रहेगा ! हे प्रभो... ! मुझे अपना लो। "दीन शरण हूँ, नाथ तिहारी" ! हे नाथ ! मुझे शुद्ध-बुद्ध तेज-रूप कर दो। मेरे देव... ! अब न ठुकराओ। अशरण-शरण... ! शरण दो।

श्री कृष्ण, विष्णो ! मधु कैटभारे !
भक्तानुकम्पिन्, भगवन् मुरारे !
त्रायस्व माम्...
त्रायस्व माम्... !

अनन्त प्रतीक्षा

मेरे प्रियतम ! साँझ हो गई !

सब लोग अपने घरों में लौट आए, पर मेरी कुटिया का द्वार बन्द का बन्द पड़ा है। इस में दीपक भी नहीं जला। चहुँ ओर अन्धकार ही अन्धकार है। कोई भी दिखाई नहीं देता, जिससे तेरा पता पूछूँ ! मेरे नाथ... ! दासी से क्या अपराध बन पड़ा कि उसे एक दम भुला दिया।

मेरे प्रियतम ! रोज़ दिन आता है, दिन के बाद रात और फिर दिन .. ! इस दिन-रात का क्रम युगों से चला आ रहा है। संसार में प्रत्येक वस्तु का अन्त आता है, पर मेरे प्रतीक्षा-क्षणों का अन्त नहीं आया !

हे माधव ! हे कृष्ण ! हे नारायण ! हे रमा पति ! हे वासुदेव ! श्याम सुन्दर ! मनमोहन ! राधाकान्त, मुरारे ! मधुसूदन ! बनवारी ! गोपाल ! गिरिधारी ! हे केशिनिसूदन ! ..., "प्यारे तुम बिन रहा न जाए," प्रतीक्षा का अन्त नहीं तो जीवन का अन्त हो।

"तुम बिन रघुकुल कुमुद विधु, सुर पुर नरक समान (तुलसो)।"

रात गहरा गई है। दुनिया सो रही है, इस समय दो ही जागते हैं योगी या भोगी..। मैं एक भी नहीं, न योगी...न भोगी... फिर भी जग रही हूँ। "मैं विरहिन बैठी जागूँ जगत सब सोवे री माई।" —(मीरा)

प्रभो ! ऐसा हो, कुछ ही क्षणों में यहाँ प्रकाश का अपार समुद्र लहराए और मैं उस अपार समुद्र में एक बुदबुदे सी विलीन हो जाऊँ।

जीवन–सत्य-दर्शन

जीवन क्या है !

कर्मों की डोरी में बँधा, नियति के हाथ का खिलौना...।
समय की गति के साथ चलने को विवश...।
कुछ भी कोई भी नहीं स्वतन्त्र !
मनुष्य प्रभात को बांध नहीं सकता !
रात्रि को टाल नहीं सकता !
फूलों का मौसम रुकता नहीं !
बहारों का आँचल थामा नहीं जा सकता !
पल भर शीतल छाया में बैठने के लिए, व्याकुल हृदय,
अपनी विवशता में सिमिट कर रह जाता है।
फूलों को लेने के लिए बढ़ा हुआ हाथ,
बिंध जाता है काँटों से।
लहू लुहान हुआ मनुष्य सोचता है,
यही थी हाथ की नियति !

मनीषी कहते हैं 'कर्त्ता' और 'भोक्ता'
के अहं को त्यागने से
होता है जन्म शाश्वत शान्ति का।
कर्त्ता के अभिमान को त्याग,
दुख और सुख की नदी से
बिना भीगे, पार हो जाना सम्भव है क्या?
प्रश्न और उत्तर... उत्तर बना, फिर प्रश्न !
निरन्तर मानव की चेतना को कसती प्रश्नों की शृंखला,
अन्तर्द्वन्द्व का कोहरा, विश्वासों का आच्छादन,
क्या कभी देखने देंगे जीवन की सचाई को !
"हिरण्यमयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितम् मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु, सत्य धर्माय दृष्टये ।।"—उपनिषद

अर्थ—हे पूषन्, सृष्टि कर्त्ता प्रभो! सांसारिक आकर्षणों के सुनहले ढकने से आप का सत्य स्वरूप ढका हुआ है। हे ज्योति-स्वरूप परमात्मन्! आप उस ढकने को दूर हटा दीजिए ताकि मैं आप के उस सत्य-धर्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करूँ, आप को जानूं।

भाव—सांसारिक प्रलोभन, विषय - वासनाओं का आकर्षण, प्रकृति की चमक-दमक में उलझा एवं आशा - तृष्णा की मृग - मरीचिका में भटकता मनुष्य उस सत्य स्वरूप प्रभु के दर्शनों से बहुत दूर रहता है। भगवत्-कृपा के बिना, आत्म-ज्ञान, ईश्वर-दर्शन सर्वथा असम्भव है। इस लिए उस ज्योति-स्वरूप परमात्मा से ही प्रार्थना की गई है कि वह सृष्टि का उत्पादक, पालक, रक्षक पूषन् भगवान् अपने चमकीले आच्छादन (माया के परदे) को हटा कर भूले मनुज को अपने सत्य स्वरूप का दर्शन करवायें। यह सामर्थ्य सिर्फ प्रभु में ही है! सिर्फ प्रभु में!

चिन्तन

चरित्र-धर्म की मूल भित्ति

मरुभूमि में अपनी धारा खो देने वाली नदी के समान मानव की जीवन-धारा सच्चरित्र के समतल मैदान के अभाव में, वासना के रेगिस्तान में भटक कर अपना अस्तित्व खो देती है। उसकी उच्च आकाँक्षाओं का निर्मल जल सूख जाता है और वह सफलता के शान्तिदायी समुद्र का सुखद अंक नहीं पा सकती।

चरित्र क्या है? इसका उत्तर उतना ही कठिन है, जितना कि "जीवन क्या है?" का उत्तर। चरित्र मानव के सम्पूर्ण

व्यक्तित्व को उजागर करता है। चरित्र वह आधार भूमि है, जिस पर जीवन के भवन का निर्माण होता है। मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य कुछ प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेता है। जैसे आत्म रक्षा की चिन्ता, आत्म-विकास की चाहना, आत्म-अभिव्यक्ति की इच्छा... इत्यादि। ये स्वाभाविक जन्म-जात प्रवृत्तियाँ ही उसके कर्म की प्रेरक होती हैं। मनुष्य की सारी जीवन-क्रियाएँ इन प्रवृत्तियों के केन्द्र-बिन्दु के गिर्द घूमती हैं। ये प्रवृत्तियाँ अनादि हैं, मनुष्य कभी भी, किसी भी अवस्था में इन का नाश नहीं कर सकता। हाँ. वह अपने बुद्धि बल से इन्हें ऐसा मोड़ दे सकता है कि इनकी कार्यशक्ति का दमन न कर, इन्हें जीवन के लिए कल्याणकारी बना दिया जाए। इस प्रक्रिया को शास्त्रों में उदात्तीकरण का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में, प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण ही चरित्र है।

कोई भी बच्चा जन्म से ही अच्छे या बुरे चरित्र का नहीं होता और न ही उसे अच्छा या बुरा चरित्र माता-पिता से मिलता है। माता-पिता प्रायः परिस्थितियों के घटक होते हैं, जो उसके चरित्र-निर्माण में कई बार सहायक हो जाती हैं, किन्तु वह इन परिस्थितियों का गुलाम नहीं होता। वह अपने चरित्र का स्वयं निर्माण करता है। सबल व्यक्तित्व परिस्थितियों को पाँवों तले मसलता हुआ चलता है। वह अपनी प्रवृत्तियों पर शासन करता है। गीता में ऐसे व्यक्ति को 'स्थित-प्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है, अतः यह स्पष्ट है कि प्रवृत्तियों का संयम चरित्र का आधार है।

"संयम" शब्द अपने उच्चारण में ही सरल है, इसका जीवन में बुद्धिपूर्वक प्रयोग अति कठिन है। कई लोग बलपूर्वक इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर रखने को ही संयम समझते हैं, परन्तु मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का बलात् नियमन शरीर

तथा मन दोनों के लिए लाभकारी नहीं। नदी की अवरुद्ध जलधारा के समान बलात् नियन्त्रित की गई प्रवृत्तियाँ अपना समुचित मार्ग न पा कर गलत रास्ते का अनुसरण कर लेती हैं और चरित्र के भव्य भवन को तहस-नहस कर देती हैं। इसके विपरीत उदात्तीकृत मानवीय प्रवृत्तियाँ मानव और समाज दोनों के लिए उत्थान के द्वार खोल देती हैं। 'उदात्तीकरण' से अभिप्राय है अपनी इच्छाओं को महान् बनाना, इन्हें स्वार्थ के तंग गड्डे से निकाल कर त्याग के विशाल जलनिधि में लय कर देना, इसी का नाम चरित्र है। इसी को आत्म-बल कहा गया है। आत्मबल ही संसार में सब से बड़ा बल है। इसके समक्ष दुनिया की समस्त शक्तियाँ झुक जाती हैं। मीरा, बुद्ध, गाँधी आदि लाखों व्यक्तियों के चरित्र का रहस्य उनका आत्मबल ही था।

चरित्र का सम्बन्ध हमारी अन्तरात्मा से अधिक, शरीर से कम है। इसी लिए अंग्रेज़ी में बाह्य-व्यवहार को Conduct और चरित्र को Character की संज्ञा दी गई है। चरित्र में दृढ़ता तथा बलिदान का बहुत बड़ा महत्त्व है। अपने विश्वासों पर दृढ़ रहना और उनके लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने वाले व्यक्ति को प्रायः ऊँचे चरित्र का व्यक्ति माना जाता है।

अपने स्वार्थ को सामने रख कर अकाल फण्ड में दिया गया लाखों रुपयों का चन्दा रोटी के उस ग्रास से कहीं घट कर है, जो किसी भूखे को बिना किसी कामना के खिलाया गया हो। यद्यपि चरित्र का सम्बन्ध हमारी अन्तरात्मा से है, तो भी शारीरिक व्यवहार का भी चरित्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसे बाह्य लक्षणों से रोग का निदान किया जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति की शारीरिक चेष्टाएँ उसके चरित्र की अभिव्यंजक तथा मापक हैं। जहाँ योग्य चिकित्सक रोग के मूल आन्तरिक कारणों को दूर करने का प्रयत्न

करता है, वहाँ वह शारीरिक बाह्य कष्टों को भी दूर करने का प्रयास करता है। भले ही हमारी भावनाएँ अच्छी हों, किन्तु यदि हमारा व्यवहार अच्छा नहीं तो हम अच्छे चरित्र के व्यक्ति नहीं कहे जा सकते। आप नहीं चाहते कि किसी व्यक्ति को प्रतीक्षा में रख कर कष्ट दें; किन्तु समय पर आने का प्रयत्न नहीं करते, तो आपका चरित्र ऊँचा नहीं कहा जा सकता।

चरित्र के मापक बड़े २ कार्य नहीं होते। व्यक्ति के चरित्र की कसौटी उसके दैनिक जीवन की छोटी २ चेष्टाएँ भी हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं आती कि वह इतिहास में लिखा जाने योग्य कोई बलिदान करे। यदि उस का दैनिक व्यवहार अन्य प्राणियों के लिए सुखकर है, तो वह बड़े से बड़ा बलिदान करने वाले व्यक्तियों से घट कर नहीं। हमारा दैनिक व्यवहार हमारे जीवन में आने वाले महान् कार्यों की भूमिका है। किसी भूले व्यक्ति को हाथ के संकेत भर से रास्ता न दिखाने वाले व्यक्ति से जनहित के लिए किसी बड़े कार्य की आशा नहीं की जा सकती। हमारा छोटे से छोटा व्यवहार महान् भावना से प्रेरित होना चाहिए तभो हम समुचित रूप से अपनो प्रवृत्तियों का उदात्ती-करण कर सकते हैं और चरित्रवान् व्यक्ति कहलाने के अधिकारी हैं।

चरित्र कोई ऐसी कला नहीं, जिसका निर्माण हम स्वान्त: सुखाय करें। व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से है, मनुष्य जब कोई इच्छा करता है, उसके अन्तर्जगत् के साथ ही बाह्य-जगत् में भी हलचल शुरू हो जाती है। मन को भावनाएँ क्रिया रूप में परिणत हो कर ही चरित्र की पूर्णता को अभिव्यक्त करती हैं। चरित्र की महानता अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुखी बनाने में है।

शान्ति का स्रोत "कर्म"

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ईशोपनिषद् ।"

अर्थः— मनुष्य अनासक्त भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। अनासक्त भाव से किया गया कर्म मनुष्य को कर्म की सफलता की चिन्ता और असफलता से होने वाले दुःख से मुक्त रखता है।

कर्म सृष्टि का आधार है। जाने या अनजाने हर प्राणी कर्म की अविच्छिन्न श्रृंखला में बँधा है। कर्म आत्मा का भोजन और उसकी चिराकाँक्षित शान्ति का स्रोत है। यही कारण है, रात्रि के गहन अन्धकार से फूटी प्रभात की स्वर्णिम आभा सृष्टि के कण-कण में स्पंदन एवं उल्लास भरती हैं। कर्म की प्रेरक एवं

स्फूर्त्तिदायिनी उषा की प्रथम सुनहरी किरण अँधकार के पर्दे में सोई शत-शत वाणियों को वाचाल कर देती है। इस के कोमल स्पर्श से चेतन तो क्या जड़ प्रकृति भी सजीव हो उठती है। समय धारा में शान्ति की यह अनुपम लहर अनादि काल से जीव मात्र को चेतनता प्रदान करती आई है। इस से कवि की लेखिनी और चित्रकार की तूलिका को गति मिली है, अतः स्पष्ट है कर्म जीवन है और जीवन की अभीप्सित शान्ति का आधार भी।

अकर्मण्य व्यक्ति का जीवन समाज तथा राष्ट्र के लिए तो भार स्वरूप होता ही है, उसके निजी जीवन के लिए भी सुखदायी नहीं होता। न उसे दिन को चैन मिलता है और न रात को सुख की नींद आती है। प्रायः हम आलसी लोगों को कहते सुनते हैं, 'दिन नहीं कटता', 'रात को नींद नहीं आती', वे लोग दिन को मनोरञ्जन के साधन खोजते हैं और रात की निद्रा के लिए डाक्टरों से परामर्श करते फिरते हैं। उनका खाली मन एक ओर कुवासनाओं में उलझ कर उन्हें अशान्त करता रहता है तो दूसरी ओर शारीरिक परिश्रम के अभाव के कारण कई बीमारियों को निमन्त्रण देता है किन्तु कड़ा परिश्रम करने वाले व्यक्ति से पूछिए, दिन और रात कितने घंटों के हैं ; दिन में कौन से क्षण उसे लम्बे प्रतीत हुए और रात्रि में करवट लेते - लेते वह कब बेचैन हो उठा, उत्तर नकारात्मक होगा।

कड़े परिश्रम से अभिप्राय दिन-रात केवल शारीरिक श्रम करना नहीं इसका अभिप्राय निरन्तर ध्येय का चिन्तन तथा उसकी पूर्त्ति के लिए योजना बनाना भी है। कर्म करने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति के मन के संकल्प में उभरने वाली योजना कर्म का पूर्व रूप होता है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक, कवि या चित्रकार

हर समय कर्म करते हुए दिखाई नहीं देते, किन्तु वे चलते-फिरते, उठते-बैठते, हर समय काम करते हैं। उनका शारीरिक कर्म तो उन के चिन्तन का मूर्त्त परिणाम होता है।

कर्म में तन्मय व्यक्ति को योगी की सी शान्ति मिलती है। इसीलिए गीता में कर्म को योग का नाम दिया है। भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं "योग: कर्मसु कौशलम्" दूसरे शब्दों में परमानंद तथा नि: सीम शान्ति कर्म में निहित है।

मानव मन में आत्म-विकास की प्रबल इच्छा रहती है। कोई भी व्यक्ति अपनी स्थिति में संतुष्ट नहीं होता। वह जो है उस से कुछ बड़ा बनना चाहता है। हम में से हर एक चाहता है कि मेरी गणना संसार के महान् व्यक्तियों में हो, किन्तु कर्म के बिना इच्छा की पूर्त्ति आकाश-कुसुम की तरह असम्भव है। इसीलिए प्रकृति ने मानव मन में आत्म विकास की प्रबल चाहना के साथ ही कर्म करने की एक अदम्य प्रवृत्ति भी भर दी है। अपने ध्येय की पूर्त्ति के लिए निरन्तर क्रियाशील रहने वाले व्यक्ति को जिस शान्ति का अनुभव होता है, उस के समक्ष वह संसार की कड़ी से कड़ी यातनाओं को भी नगण्य समझता है। विषैली नागिन की सी फाँसी की डोरी, मृत्यु की विजय पताका लहराती हुई आग की लपटें, मृत्युरूप ज़हर के प्याले, धाँय-धाँयें करती हुई तोपें तथा आग उगलती बन्दूकें भी उसे कर्म से विरत नहीं कर सकतीं। इतिहास साक्षी है, अपने देश तथा विदेशों में भी लाखों ऐसे महान् व्यक्ति हुए जिन्हों ने दीपक की तरह स्वयं कर्म की आग में जल कर संसार को प्रकाशित किया है। French Revolution के बाद संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ANTOINE LAVOISIER को जब यह सूचना मिली कि निकट भविष्य में उसे मृत्यु दण्ड

दिया जाने वाला है, अतः उसे चुपके से फाँस छोड़ देना चाहिए तो इस सुझाव को अस्वीकार करते हुए उसने उत्तर दिया "I have lived a useful life, and I am ready." अर्थात् मैंने बड़ा उपयोगी जीवन जिया है अब मैं मृत्यु के लिए तैयार हूँ। उसने आठ दिन और जीवित रहने की इच्छा प्रकट की थी केवल इस लिए कि वह विज्ञान के एक अधूरे प्रयोग को पूर्ण करना चाहता था। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए महर्षि स्वामी दयानन्द के चेहरे पर खेलती हुई शान्ति की मुस्कराहट को देख कर गुरुदत्त जैसे परम नास्तिक भी आस्तिक बन गए। यह है क्रियाशीलता, जो न केवल कर्त्ता को आनन्दित करती है, अपितु कर्त्ता के सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों को भी प्रभावित कर शान्ति का मार्ग उपलब्ध करवाती है। ऐसी महान् विभूतियों ने ही संसार को लौकिक एवं पारलौकिक सुख के साधन दिए हैं और उन की क्रियाशीलता का फल आज हम भोग रहे हैं। ऐसे लोग मृत्यु के बाद भी अपनी उपलब्धियों के रूप में जीवित हैं तथा सांसारिक दुःखों से संतप्त मानवता को सदा शान्ति प्रदान करते आ रहे हैं।

कर्म का शान्ति दायक होना उसके बाहिरी स्वरूप की अपेक्षा कर्त्ता की भावना पर निर्भर होता है। पेट में छुरी लगाना डॉक्टर तथा डाकू का कर्म स्वरूप में एक जैसा होने पर भी एक सा शान्तिदायक नहीं होता। स्पष्ट है, शान्ति कर्म पर आधारित है किन्तु कर्म स्वार्थ रहित और सद्भावना से प्रेरित होना चाहिए। स्वामी राम कहते हैं, "मैं कर रहा हूँ, इस भावना को भूल जाइये। स्वामित्व की भावना जितनी कम होती जाएगी उतने ही आप प्रलोभन से दूर रहेंगे।" जब कर्त्ता सृष्टि की संचालक महान् शक्ति से अपनी शक्ति को मिला देता है तब उसे परिश्रम से श्रान्ति तथा असफलता से अशान्ति नहीं होती। अशान्ति का

कारण है स्वार्थ एवं अहंभाव।

कर्म की सफलता पर आनन्द मिलता है पर सफलता मिलती तब है जब व्यक्ति कर्म के फल को, अपने को, यहां तक कि कर्म को भी भूल कर कर्ममय हो कर कर्म करता है। पर जब हम स्व को विश्वात्मा से अलग कर के देखते हैं; हम स्वार्थवश केवल अपने सुख के लिए कर्म करना चाहते हैं; हम भूल जाते हैं कि सृष्टि से पृथक् हमारी कोई सत्ता नहीं। दूसरों के लिए दुःख छोड़कर हम अपने लिए सुख इकट्ठा नहीं कर सकते। जो हम दूसरों को देते हैं वही हमें मिलता है यह प्रकृति का शाश्वत नियम है अतः सब के सुख के लिए किया गया कर्म ही सुख एवं शान्ति का स्रोत होता है।

सर आइज़क न्यूटन के लिए प्रसिद्ध है कि वह हमेशा चिन्तन शील रहा करते थे। उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में एक नए युग को जन्म दिया किन्तु वे आत्म प्रशंसा के प्रति इतने अनासक्त थे कि उन्हों ने अपनी पुस्तकों को भी प्रकाशित करवाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। मृत्यु से कुछ समय पूर्व लोगों की प्रशस्तियों का उत्तर देते हुए उन्हों ने कहा था, "मैं तो ज्ञान के विस्तीर्ण समुद्र के किनारे अभी तक कंकर बीनता रहा हूँ।" यह है निरन्तर क्रियाशील व्यक्ति की निरभिमानिता एवं मन की शान्त स्थिति।

संसार के प्रति भिन्नता का भाव मिटने पर ही कर्त्ता को कर्म से सच्ची शान्ति मिलती है। जैसे पाँव में कांटा चुभने पर हाथ अपने आप वहाँ पहुँच जाता है। पीड़ा से मुक्ति मिलने पर व्यक्ति आनन्द एवं शान्ति का अनुभव करता है, वैसे ही आत्म-भाव से समाज की सुख शान्ति के लिए किया गया कर्म हृदय में

आनन्द का संचार करता है। व्यक्ति समष्टि का एक अङ्ग है ममत्व तथा अभिमान को छोड़कर प्रेम-भाव से किया गया कर्म निश्चय ही शान्ति का कारण है। जब हम दूसरों के लिए बुरा सोच कर कर्म करते हैं, भय का एक मोटा पर्दा हमारी आत्मा को ढाँप लेता है। दूसरों को भयभीत करने वाला व्यक्ति स्वयं भी भयभीत रहता है। भय के कारण उसकी आत्मा कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकती। गीता कहती है "अशान्तस्य कुतः सुखम्।" अशान्त को कहीं भी सुख नहीं मिलता।

आज सुख के अनेक साधनों के बावजूद व्यक्ति दुखी है। उस के पास सुख के जितने साधन हैं, उतने शायद ही कभी किसी युग के व्यक्ति के पास रहे हों किन्तु उसकी आत्मा भयभीत एवं अशान्त है। विश्वशान्ति के लिए नित्य नई बैठकें होती हैं, किन्तु स्वार्थ उसकी सफलता में बाधक बन रहा है। प्रेम तथा सहानुभूति का स्थान द्वेष तथा घृणा ने ले लिया है और शान्ति के स्थान पर सब ओर अशान्ति का वातावरण है।

इसमें संदेह नहीं कि कर्मफल का ध्यान न रखते हुए अनासक्त होकर व्यक्ति को कर्म करना चाहिए, किन्तु यह भी निश्चित है कि आनन्द, उल्लास तथा शान्ति की प्राप्ति कर्म की सफलता से ही मिलती है और सफलता का रहस्य है कर्म में पूरी निष्ठा और पूर्ण शक्ति का उपयोग। अधूरे मन से किया कर्म सफलता नहीं देता अपितु मानसिक कुंठाओं को जन्म देता है। स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में :—

"जी जान से किये जाने वाले काम के साथ जो तात्कालिक आनन्द लगा हुआ है, उससे बढ़कर सुखदायक और स्वास्थ्यकर कोई पुरस्कार या प्रशंसा नहीं हो सकती।"

आत्मिक सौन्दर्य

मनुष्य स्वभाव से सौन्दर्य-प्रिय प्राणी है। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, सुन्दर भवन, बाग-बगीचे, नित्य नए रंगों से सजे वस्त्र-आभूषण, समाज और परिवार में मानवीय जीवन की सारी चमक-दमक उसकी सौन्दर्य प्रियता के ही प्रमाण हैं। इस धरती पर प्रथम पाँव धरने से लेकर आज तक मनुष्य अपने आस-पास, घर-आँगन, और स्वयं अपने आप को सुन्दर, आकर्षक और उपयोगी बनाने में अपनी सूझ-बूझ के अनुसार निरन्तर प्रयत्नशील है। वस्तुतः इस चराचर जगत् में मनुष्य परमात्मा की सर्वोत्तम और सर्वसुन्दर कृति है। किन्तु ध्यान रहे, मनुष्य केवल शरीर नहीं और न ही केवल दृश्य जगत् उसका संसार है। उसके भीतर दृश्य जगत् से एक महत्त्वपूर्ण संसार, एवं उसके स्थूल शरीर से एक सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म शरीर और चेतन तत्त्व आत्मा है, जिसका अलंकरण भौतिक जगत् के स्थूल पदार्थ नहीं कर सकते। शुद्धता अर्थात् स्वच्छता इस सौन्दर्य सज्जा का आधार है। मनु महाराज लिखते हैं :—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्या तपोभ्याम् भूतात्मा, बुद्धि ज्ञानेन शुध्यति॥

अर्थात्—शरीर पानी से शुद्ध होता है, मन सत्याचरण से शुद्ध होता है, विद्या और तप से जीवात्मा निर्मल व सुन्दर होती है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। राग-द्वेष, इच्छाओं-आकांक्षाओं से रहित निश्छल मन आत्म दर्शन के लिए निर्मल दर्पण और अन्तःकरण का एकमात्र सौन्दर्य है। निष्कपट मन में सत् संकल्प उठते हैं। सदाचारी व्यक्ति अपने गुणों एवं सुकर्मों से विश्व के प्रत्येक प्राणी को आकर्षित करता है। राग-द्वेष रहित व्यक्ति का जीवन परहित के लिए समर्पित होता है। आत्म-ज्ञान, अर्थात् सर्वत्र ईश्वर दर्शन ।

वेद कहता है :—

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं, ततो न विजिगुप्सते ॥ ईशोपनिषद्

अर्थात् आत्मज्ञानी के मन से अपने और पराए का भेद मिट जाता है। वह सब में अपने को और अपने में सब को देखता है। ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार घृणा रहित और प्रेम पूर्ण होता है। आत्मिक सौन्दर्य को निखारने हेतु इन्द्रिय-निग्रह, यम-नियमों का पालन तप कहलाता है। तीर्थ-व्रत आदि इन्द्रिय-निग्रह के सरल साधन हैं। इन से आत्मा शुद्ध हो कर सर्वात्म भाव को अपनाने के योग्य बनती है। ईशोपनिषद् में ही ऋषि लिखता है, सब में आत्म भाव का द्रष्टा मनुष्य ज्योति-स्वरूप निराकार, परमपावन परमात्मा को सहज ही पा लेता है।

"मंत्र—स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं
शुद्धमपापविद्धम् ।"

संकल्पात्मकमिदं जगत्

यह सृष्टि संकल्पमय है। इस संसार में जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, उसकी अभिव्यक्ति का आधार संकल्प है। वेद कहता है, ईश्वर ने संकल्प किया, "एकोऽहं बहुस्याम्" अर्थात् मैं एक से अनेक हो जाऊँ, तो नाना पदार्थों और जीवों से पूर्ण, ब्रह्माण्ड ने आकार ग्रहण किया। संसार में छोटे से छोटा काम हो या बड़ा आविष्कार अथवा राष्ट्रीय क्रान्ति, इन सब के पीछे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों की संकल्प शक्ति ही काम करती है। दृढ़ एवं सत्-संकल्प कार्य को पूर्णता और सुन्दरता प्रदान करता है, कमज़ोर संकल्प पानी के बुदबुदे की तरह उठते और बिना किसी परिणाम के विलीन हो जाते हैं।

मन संकल्प का उत्पत्ति स्थान है। मन की विषय भोग की स्वार्थ-परक इच्छाएँ इसके सत् संकल्प को दूषित कर विकल्प में बदल देती हैं। मन मनुष्य का कुरुक्षेत्र है। इस में सद् गुणों के रूप में पाण्डव और दुर्गुणों के रूप में कौरव हर समय युद्ध रत रहते हैं। श्री कृष्ण अर्थात् ईश्वराज्ञा के अनुरूप निःस्वार्थ कर्म सुख समृद्धि का विस्तार करता है। वेद कहता है— "मन का सत्संकल्प मनुष्य के जीवन रथ को उसके ध्येय तक बिना कष्ट के

अर्थात्—शरीर पानी से शुद्ध होता है, मन सत्याचरण से शुद्ध होता है, विद्या और तप से जीवात्मा निर्मल व सुन्दर होती है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। राग-द्वेष, इच्छाओं-आकांक्षाओं से रहित निश्छल मन आत्म दर्शन के लिए निर्मल दर्पण और अन्त:करण का एकमात्र सौन्दर्य है। निष्कपट मन में सत् संकल्प उठते हैं। सदाचारी व्यक्ति अपने गुणों एवं सुकर्मों से विश्व के प्रत्येक प्राणी को आकर्षित करता है। राग-द्वेष रहित व्यक्ति का जीवन परहित के लिए समर्पित होता है। आत्म-ज्ञान, अर्थात् सर्वत्र ईश्वर दर्शन ।

वेद कहता है :—

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं, ततो न विजिगुप्सते ।। ईशोपनिषद्

अर्थात् आत्मज्ञानी के मन से अपने और पराए का भेद मिट जाता है। वह सब में अपने को और अपने में सब को देखता है। ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार घृणा रहित और प्रेम पूर्ण होता है। आत्मिक सौन्दर्य को निखारने हेतु इन्द्रिय-निग्रह, यम-नियमों का पालन तप कहलाता है। तीर्थ-ब्रत आदि इन्द्रिय-निग्रह के सरल साधन हैं। इन से आत्मा शुद्ध हो कर सर्वात्म भाव को अपनाने के योग्य बनती है। ईशोपनिषद् में ही ऋषि लिखता है, सब में आत्म भाव का द्रष्टा मनुष्य ज्योति-स्वरूप निराकार, परमपावन परमात्मा को सहज ही पा लेता है।

"मंत्र—स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं
शुद्धमपापविद्धम् ।"

संकल्पात्मकमिदं जगत्

यह सृष्टि संकल्पमय है। इस संसार में जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, उसकी अभिव्यक्ति का आधार संकल्प है। वेद कहता है, ईश्वर ने संकल्प किया, "एकोऽहं बहुस्याम्" अर्थात् मैं एक से अनेक हो जाऊँ, तो नाना पदार्थों और जीवों से पूर्ण, ब्रह्माण्ड ने आकार ग्रहण किया। संसार में छोटे से छोटा काम हो या बड़ा आविष्कार अथवा राष्ट्रीय क्रान्ति, इन सब के पीछे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों की संकल्प शक्ति ही काम करती है। दृढ़ एवं सत्-संकल्प कार्य को पूर्णता और सुन्दरता प्रदान करता है, कमज़ोर संकल्प पानी के बुदबुदे की तरह उठते और बिना किसी परिणाम के विलीन हो जाते हैं।

मन संकल्प का उत्पत्ति स्थान है। मन की विषय भोग की स्वार्थ-परक इच्छाएँ इसके सत् संकल्प को दूषित कर विकल्प में बदल देती हैं। मन मनुष्य का कुरुक्षेत्र है। इस में सद् गुणों के रूप में पाण्डव और दुर्गुणों के रूप में कौरव हर समय युद्ध रत रहते हैं। श्री कृष्ण अर्थात् ईश्वराज्ञा के अनुरूप नि:स्वार्थ कर्म सुख समृद्धि का विस्तार करता है। वेद कहता है— "मन का सत्संकल्प मनुष्य के जीवन रथ को उसके ध्येय तक बिना कष्ट के

पहुँचा देता है। इसलिए ईश्वर से "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" की प्रार्थना की गई है।

निःस्वार्थी शुद्ध मन की प्रेरणा ही संकल्प होती है और वह प्रेरणा ही संसार को सुखमय बनाती है। यदि हम संसार को सुन्दर सुखमय देखना चाहते हैं तो हमारा मन शुद्ध, स्वार्थ रहित और संकल्प भगवद् गीता में भगवान् श्री कृष्ण के मुखारविन्द से निकले शब्दों के अनुसार—

"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।"

अच्छे व्यक्तियों की रक्षा, बुरे व्यक्तियों का नाश और धर्म की स्थापना करने का होना चाहिए।

वे जिये जो दूसरों का दर्द ले जिये,
बाँट कर सुधा को जो, जहर स्वयं पिये।
बाँटने की चीज़ है, दुःख दर्द बाँट लो,
बाँटने की चीज़ हैं, सुखों को बाँट दो।

अश्रु भीगे अधर पर, जो स्मित बिखेर दे
वे जिये जो दूसरो, का दर्द ले जिये।

(समय धारा से)

मानसिक रोग "आलस्य"

आलस्य मानव जीवन का बहुत बड़ा शत्रु है। आलसी मनुष्य के मन की आशायें और आकाँक्षायें, समुद्र तट से टकरा कर लौट जाने वाली लहरों की तरह किसी परिणाम को व्यक्त किये बिना ही मन में उठती और विलीन हो जाती हैं। आलस्य एक ऐसा अथाह समुद्र है जिसमें उत्साह और साहस के जहाज डूब कर नाम शेष रह जाते हैं। आलस्य सफलता के मार्ग पर जमी हुई ऐसी काई है जो देखने में मोहक किन्तु पथिक का अंग भंग कर उसकी मंज़िल को बहुत दूर कर देती है। आलसी मनुष्य भविष्य के सुनहले स्वप्न अथवा कल्पना के निःसीम गगन में स्वच्छन्द विचरण कर कुछ क्षणों के लिये भले ही आनन्दमग्न हो ले किन्तु कर्म की सफलता से प्राप्त आत्म-सुख का अनुभव उसे कभी भी नहीं मिल सकता।

साधारण भाषा में काम काज न कर निठल्ले बैठे रहना ही आलस्य है, किन्तु सूक्ष्म विवेचन से पता चलता है कि आलस्य के अनेक रूप हैं। आलस्य के स्वरूप को समझना भी उतना ही कठिन है जितना कि गीता के अनुसार कर्म की गति को समझना।

कर्म करना तथा निठल्ले बैठना शारीरिक अवस्था के दो रूप हैं किन्तु पुरुषार्थ आत्मा का गुण है। शारीरिक क्रिया का सम्बन्ध अधिकतया बाह्य परिस्थितियों से जुड़ा रहता है किन्तु गुण आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण परिस्थितियों की शृंखला से

पहुँचा देता है। इसलिए ईश्वर से "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" की प्रार्थना की गई है।

निःस्वार्थी शुद्ध मन की प्रेरणा ही संकल्प होती है और वह प्रेरणा ही संसार को सुखमय बनाती है। यदि हम संसार को सुन्दर सुखमय देखना चाहते हैं तो हमारा मन शुद्ध, स्वार्थ रहित और संकल्प भगवद् गीता में भगवान् श्री कृष्ण के मुखारविन्द से निकले शब्दों के अनुसार—

"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।"

अच्छे व्यक्तियों की रक्षा, बुरे व्यक्तियों का नाश और धर्म की स्थापना करने का होना चाहिए।

वे जिये जो दूसरों का दर्द ले जिये,
बाँट कर सुधा को जो, जहर स्वयं पिये।
बाँटने की चीज़ है, दुःख दर्द बाँट लो,
बाँटने की चीज़ हैं, सुखों को बाँट दो।

अश्रु भीगे अधर पर, जो स्मित बिखेर दे
वे जिये जो दूसरो, का दर्द ले जिये।

(समय धारा से)

मानसिक रोग "आलस्य"

आलस्य मानव जीवन का बहुत बड़ा शत्रु है। आलसी मनुष्य के मन की आशायें और आकाँक्षायें, समुद्र तट से टकरा कर लौट जाने वाली लहरों की तरह किसी परिणाम को व्यक्त किये बिना ही मन में उठती और विलीन हो जाती हैं। आलस्य एक ऐसा अथाह समुद्र है जिसमें उत्साह और साहस के जहाज डूब कर नाम शेष रह जाते हैं। आलस्य सफलता के मार्ग पर जमी हुई ऐसी काई है जो देखने में मोहक किन्तु पथिक का अंग भंग कर उसकी मंज़िल को बहुत दूर कर देती है। आलसी मनुष्य भविष्य के सुनहले स्वप्न अथवा कल्पना के निःसीम गगन में स्वच्छन्द विचरण कर कुछ क्षणों के लिये भले ही आनन्दमग्न हो ले किन्तु कर्म की सफलता से प्राप्त आत्म-सुख का अनुभव उसे कभी भी नहीं मिल सकता।

साधारण भाषा में काम काज न कर निठल्ले बैठे रहना ही आलस्य है, किन्तु सूक्ष्म विवेचन से पता चलता है कि आलस्य के अनेक रूप हैं। आलस्य के स्वरूप को समझना भी उतना ही कठिन है जितना कि गीता के अनुसार कर्म की गति को समझना।

कर्म करना तथा निठल्ले बैठना शारीरिक अवस्था के दो रूप हैं किन्तु पुरुषार्थ आत्मा का गुण है। शारीरिक क्रिया का सम्बन्ध अधिकतया बाह्य परिस्थितियों से जुड़ा रहता है किन्तु गुण आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण परिस्थितियों की शृंखला से

मुक्त होता है। बाह्य दबाव अथवा भय वश यदि कोई व्यक्ति कार्य-रत हो तो उसे पुरुषार्थी की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि आन्तरिक प्रेरणा के अभाव में किया गया कर्म आनन्द-दायक न होकर दुःखदायक होता है। आलसी व्यक्ति परिस्थिति वश कर्म करते हुए भी कर्म से प्राप्त होने वाले आनन्द का उपभोग नहीं कर पाता। दूसरी ओर पुरुषार्थी व्यक्ति परिस्थिति वश शरीर से निठल्ला रहने पर भी चिन्तनशील रह कर कर्म के आनन्द को प्राप्त करता हुआ चिन्तन को क्रिया में परिणत करने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा करता है।

क्रिया का सम्पादन तीन शक्तियों : शरीर, मन और मस्तिष्क दूसरे शब्दों में कर्म, इच्छा और ज्ञान से होता है। इन तीनों का समुचित योग ही सफलतादायक और शान्तिदायक होता है। इन तीनों शक्तियों की श्रेष्ठता और महत्ता इनकी सूक्ष्मता से सम्बन्ध रखती हैं। जो शक्ति जितने अधिक सूक्ष्म तत्व से सम्बन्धित है वह उतनी हो श्रेष्ठ और क्रिया के लिये उतनी ही आवश्यक होती है। विदित है कि शरीर से मन और मन से बुद्धि सूक्ष्म है। अतः कर्म की सफलता के लिये शरीर की अपेक्षा मन और बुद्धि का योग अधिक अपेक्षित है। यही कारण है कि शारीरिक रूप से निर्बल किन्तु पुरुषार्थी व्यक्ति, शारीरिक रूप से सबल किन्तु आलसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक काम करता है। उसके कर्म के परिमाण में ही अधिकता नहीं होती अपितु अनुकूल परिणाम में भी अधिकता होती है। यह अनुभव सिद्ध बात है, जो काम अनमने मन से किया जाता है उसकी पूर्त्ति में देरी के अतिरिक्त कर्त्ता को परिणाम में भी अनुकूलता प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिये दैनिक जीवन के साधारण कामों को ही ले लें, कपड़े सीने को जी नहीं चाह रहा किन्तु सीने हैं, विवशता है।

सीने बैठिये, कटाई गलत हो जायेगी, उल्टे सिल जायेंगे, उधेड़ने और सीने में दुगुणा तिगुणा समय लगेगा और कपड़ा फिर भी आप की इच्छा का नहीं सिलेगा। इससे स्पष्ट है मन बुद्धि और शरीर के पूर्ण योग से कर्म करने वाला व्यक्ति पुरुषार्थी और सफलता का प्रतीक होता है इसी लिये कहा है "प्रयत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष:" अर्थात् यदि प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती तो इसमें कर्ता का कुछ दोष नहीं किन्तु विवेकी जन, "अस्ति कश्चिद् अत्र दोष:" अर्थात् कर्त्ता के प्रयत्न में कुछ दोष अवश्य है ऐसा कहते हैं। उनके विचार में प्रयत्न करने पर यदि कार्य में सफलता नहीं मिली तो प्रयत्न में अवश्य ही कुछ दोष रह गया है। यदि प्रयत्न पूर्ण हो तो परिणाम कभी प्रतिकूल नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि में अधूरा प्रयत्न करने वाला व्यक्ति भी आलसी ही है।

अपने को जीवन मुक्त कह कर दुनिया को धोखा देने वाले लोग मलूकदास का पद "अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सब के दाता राम।" का उदाहरण दे कर ईश्वर भक्ति के आवरण में अपने आलस्य को ढाँपने का प्रयत्न करते हैं। उक्त पद का अर्थ "काम न करना", निकालना समीक्षा सम्बन्धी मौलिक भूल करना है। कविता का ठीक अर्थ वक्ता, श्रोता, देश और काल के परिवेष में पैठ कर ही किया जा सकता है। यह पद ईश्वर भक्त द्वारा सांसारिक लोगों के प्रति कहा हुआ होने के कारण काम न करने का उपदेश नहीं, चिन्ता मुक्त रहने का आदेश देता है। अपनी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार पक्षी भी कर्म करते हैं किन्तु चिन्ता नहीं। कर्म तो जीवन है और आलस्य मृत्यु। संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं जो कर्म न करता हो और जीवन में कोई भी ऐसा

समय अथवा अवस्था नहीं आती जबकि मनुष्य कर्म किये बिना रह सकता हो। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं :—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।"

अर्थ—"कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक मनुष्य को बलात् कर्म में लगाये रखते हैं"। इतना होने पर भी जो मनुष्य कर्म में अपने मन और बुद्धि को नहीं लगाते वे आलसी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकते। जीवन का हर क्षेत्र लौकिक हो या आध्यात्मिक, राजनैतिक हो या सामाजिक, उन्नति के लिये पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। त्याग और अभ्यास पुरुषार्थ के ही दो नाम हैं। प्रत्येक बुराई का त्याग और अच्छाई का ग्रहण इन दो साधनों से ही होता है। त्याग और अभ्यास से सांसारिक वस्तु की प्राप्ति तो क्या स्वयं भगवान् की भी प्राप्ति हो जाती है। रामचरित मानस में तुलसी दास जी ने भाग्य को प्रबल शक्ति माना है किन्तु पुरुषार्थ से वह भी बदला जा सकता है। इसका समर्थन करते हुए उन्होंने श्री नारद जी से कहलवाया है "जो तप करे कुमारी तुम्हारी, भाविहिं मेटि सके त्रिपुरारी।" उक्त पद में स्पष्ट कहा है कि तप अर्थात् पुरुषार्थ भाग्य को बदल देता है। यदि मनुष्य पुरुषार्थ के महत्त्व को न समझते हुए अपने अभावग्रस्त जीवन का उत्तरदायी भाग्य को ही ठहराता रहे तो उसे क्या कहा जाये। वेद कहता है, "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" उठो जागो और प्राप्त करने योग्य ईश्वरीय समृद्धियों को जानो।

आलस्य भी अन्य बुराइयों की तरह छोटे से शुरु हो कर धीरे-धीरे भयानक रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ में तो

मनुष्य छोटे-मोटे कामों में आलस्य करता है किन्तु धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ जाती है, तो वह आवश्यक से आवश्यक कार्य की भी उपेक्षा कर जाता है और परिणाम सामने आने पर भाग्य को कोसने लगता है।

प्रश्न उठता है, आलस्य की इस नाशक प्रवृत्ति से छुटकारा कैसे मिले? उत्तर सीधा और सरल है, यदि आलस्य से छुटकारा पाने की इच्छा है तो किसी भी करने योग्य काम को साधारण या छोटा कह कर छोड़ न दो। मन बहाने गढ़ने में बढ़ा चतुर है। कई बार हम आवश्यक काम को आलस्यवश नहीं करते और अपने आलस्य के समर्थन में बहाना ढूँढ़ कर मन ही मन कह उठते हैं, इस समय इस काम को न करना उचित ही है।

आलस्य से छुटकारा पाने का दूसरा बड़ा सफल साधन है दिन भर में करने योग्य कामों का समय निश्चित कर लेना और फिर उसका दृढ़ता से पालन करना। आरम्भ में मन बाहरी नियमों के प्रति विद्रोह करता है किन्तु अभ्यास से जब ये नियम बाह्य न रह कर हमारी प्रकृति में मिल जाते हैं तो उन्हें छोड़ना असम्भव हो जाता है।

आलसी व्यक्तियों की संगति से दूर रहना भी आलस्य से छुटकारा पाने का अमोघ साधन है। कुछ लोग दिन भर बातें करने के सिवा और कुछ काम नहीं करते। वे स्वयं तो निठल्ले बैठते ही हैं और दूसरों को भी बातों में उलझाये रखते हैं। ऐसे लोगों की संगति आलस्य की पोषिका होती है। विपरीत इसके कर्मशील व्यक्तियों का संपर्क व्यक्ति को आलस्य से बचाता है।

मानव जीवन में अध्ययन का अत्यन्त महत्त्व है। साहित्य हमारे जीवन का निर्माण करता है। उस से हमें कर्म की प्रेरणा मिलती है किन्तु केवल मनोरंजन के लिये उद्देश्य रहित अध्ययन

भी आलस्य को जन्म देता है। देखने में आता है कई लोगों को पढ़ने का व्यसन सा होता है। अच्छी बुरी कोई भी पुस्तक हाथ में आते ही वे उसे पढ़ कर ही छोड़ते हैं। निम्न श्रेणी के उपन्यास अथवा कहानियों को पढ़ने में वे अपने को इतना डुबो देते हैं कि जीवन के लिये उपयोगी कामों को करना तो दूर जीवन के लिये अनिवार्य दैनिक कार्यों, जैसे खाना, सोना आदि, को भी भूल जाते हैं। उनसे समाज को दोहरी हानि होती है; एक तो वे स्वयं कर्म न करने के कारण समाज के लिये भार रूप होते हैं दूसरे अपने कुसंस्कारों से अपने साथ आस-पास के वातावरण को भी दूषित करते हैं।

इसी प्रकार कुछ एक खेल, जैसे शतरंज, ताश आदि भी पुरुषार्थ के घातक हैं। इन खेलों में उलझे व्यक्तियों की आँखों से देश और समाज का हित किस प्रकार ओझल हो जाता है का सच्चा चित्र श्री प्रेमचन्द जी ने "शतरंज के खिलाड़ी" कहानी में अंकित किया है। अभिप्राय यह कि अध्ययन और खेल जीवन के लिये उपयोगी होने पर भी व्यसन की स्थिति में ग्राह्य नहीं रहते तब उन से कर्म की प्रेरणा न मिल कर आलस्य का सृजन होता है।

निराशा और भाग्यवादिता भी आलस्य को प्रश्रय देती हैं। जीवन के संघर्षों से निराश प्राणी अपने को तुच्छ और हेय समझने लगता है। उसके अहं की दीप्ति निराशा के कोहरे से आच्छादित हो जाती है। 'भाग्य में जो होगा मिल जायेगा'। 'प्रयत्न करने से हमने क्या पा लिया।' 'जब भाग्य ही सोया है तो लाख यत्न करने पर भी कुछ नहीं होगा।' ऐसे वाक्यों से वे मानसिक शान्ति पाने का व्यर्थ प्रयास करते हैं किन्तु वे गीता के उपदेश को भूल जाते हैं जहां स्वयं भगवान् श्री कृष्ण अनासक्त भाव से निरन्तर

कर्म करने की प्रेरणा देते हैं :—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः।।
अ० छः श्लो० १।।

अर्थ—अनासक्त भाव से, फल की आशा को छोड़ जो व्यक्ति कर्म करता है, वही योगी है, वही संन्यासी है, यज्ञ-याग आदि कर्मों को त्यागने वाले व्यक्ति को योगी या संन्यासी नहीं कहा जा सकता।

स्पष्ट है कि मनुष्य को कर्त्तव्य बुद्धि से हमेशा कर्म करना चाहिए, जिस से असफलता से उत्पन्न निराशा उसकी कर्मण्यता को परास्त न कर दे।

आलस्य लहलहाता हरा-भरा विष-वृक्ष है, जिसकी मोहक छाया में सांसारिक संघर्षों और असफलताओं से क्लान्त व्यक्ति क्षण भर के लिये सुस्ता लेना चाहता है, किन्तु यह एक क्षण उसे चेतना शून्य कर देता है। वह जीते जी जीवन के दांव को हार देता है जिसे वीर मर कर जीतते हैं और कई बार एक क्षण का आलस्य जीवन भर का पश्चात्ताप बन जाता है, अतः मानव जीवन की प्रगति के प्रबल शत्रु आलस्य को एक क्षण के लिए भी अपने पास नहीं आने देना चाहिए।

मनुष्य का पुरुषार्थ ही एक मात्र ऐसा साधन है जो संसार की समस्त समृद्धियों को उस के पास खींच लाने की क्षमता रखता है। उक्ति है :—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।"

अर्थ—लक्ष्मी उद्योगी पुरुषसिंह को स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।"

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण से अर्जुन ने प्रश्न किया है, कि न चाहने पर भी मनुष्य बलपूर्वक नियुक्त किए हुए की तरह किस की प्रेरणा से पाप करता है? उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्ः।"

काम जिसका दूसरा रूप क्रोध है, पापाचरण का मूल कारण है। इस की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। यह भोग से कभी तृप्त नहीं होता। पापाचरण की प्रेरक शक्ति होने के कारण यह मनुष्य का परम शत्रु हैं। कबीर दास जी ने काम की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है। उन का कहना है, काम का दायरा बड़ा विस्तृत है। मन की सभी इच्छाएँ काम की परिधि में आती हैं। उन्हीं के शब्दों में :—

काम काम सब कोऊ कहें, काम न चीन्हें कोय।
जेती मन की कामना, काम कहिए सोय।

मनुष्य की इच्छाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं इसी लिए काम को भगवान् ने 'महाशनः' बड़ा भारी पेटू, बहुत खाने वाला कहा है। यह जितना खाता है, इस की भूख उस से कई गुणा अधिक बढ़ जाती है। रजोगुण अर्थात् संसार के प्रति आसक्ति कामनाओं का अजस्र स्रोत है एक इच्छा की पूर्ति के बाद दूसरी जन्म ले लेती है।

मन अत्यन्त चंचल है, न चाहते हुए भी यह इन्द्रियों के विषयों की ओर आकृष्ट हो, अनेकानेक कुकर्म कर मानव जीवन को

नष्ट कर देता है। मनुष्य सन्मार्ग पर चलना चाहता है, अच्छाई की उच्चतम भूमि को पाना चाहता है, पर न जाने कहाँ से, कैसे इन्द्रियाँ उसे विषयों के दल-दल में घसीट लेती हैं। इन्द्रियों के आधीन हुआ मन सद्-असद् का विवेक खो वैठता है और सांसारिक सुखों के अन्धकूप में गिर कर आत्म हनन करता है।

कठोपनिषद में शरीर को रथ, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े और सुबुद्धि को सारथि कहा गया है। जीवांत्मा इस रथ में बैठा हुआ रथी है। यदि मन की लगाम 'सुबुद्धि' रूपी सारथि के हाथ में नहीं तो इन्द्रिय रूपी घोड़े, विषयों के कीचड़ भरे मार्ग में भटक अन्धे कुएँ में गिर कर शरीर के साथ आत्मा को भी अधो गति की ओर ले जाते हैं। यजुर्वेद में मन की समानता सारथि से कर के ऋषियों ने ईश्वर से मन के सत्संकल्पात्मक होने की प्रार्थना की है। क्योंकि मन के शिव संकल्पात्मक होने पर, प्रभु की कृपा से विवेक और सद्बुद्धि की ज्योति जीवन-पथ को प्रकाशित करती है, तभी जीवन की उच्चतम भाव-भूमि की उपलब्धि होती है। अन्यथा मनुष्य बिदके घोड़ों से जुते रथ में बैठे रथी के समान, आत्मघाती बन, युगों-युगों तक विषय भोगों की ज्वाला में जलता रहता है।

इच्छाओं की पूर्त्ति न होने पर क्रोध का आविर्भाव होता है। 'क्रोध' को काम का ही दूसरा रूप कहा है और मनुष्य का सर्वनाश करने वाला परम शत्रु माना है। क्रोधी मनुष्य का विद्रोही मन अपनी मंज़िल से भटक कर अपने प्राप्य को खो देता है। क्रोध से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। क्रोध शारीरिक और मानसिक रोगों का जन्मदाता है। यह आयु और शक्ति को क्षीण करता है। क्रोध ऐसा विष है जो दूसरों को कम और अपने आश्रय अर्थात् क्रोध करने वाले को अधिक हानि पहुँचाता है।

क्रोध को विद्वानों ने नरक का द्वार कहा है और इस से सदा दूर रहने का उपदेश दिया है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने क्रोध को मनुष्य के सर्वनाश का कारण बताया है, क्योंकि क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य मूर्छित हुए व्यक्ति के समान कुछ भी सोचने समझने में असमर्थ हो जाता है और उसकी स्मृति भ्रमित हो जाती है। शास्त्रों में लिखे ऋषियों के कल्याणकारी उपदेश उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहते। स्मृति के इस विभ्रम से बुद्धि अर्थात् अन्तश्चेतना नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

श्लोक—ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। —गीता

मनुष्य को "मनुष्य" की संज्ञा देने वाले दया, क्षमा, सहिष्णुता परोपकार आदि सद्गुणों के प्रति क्रोधी व्यक्ति की आस्था नहीं रहती। उदात्त भावनाओं के प्रति आस्थारहित मनुष्य हिंसक वन्य पशुओं के समान निरुद्देश्य जीवन का भार उठाए केवल विषय भोगों के लिए जीता है। संसार में वह अकेला, भयभीत, हर पल अशान्त विचरण करता है। अतः सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक सुख एवं आत्म-कल्याण के लिए क्रोध का त्याग परमावश्यक है। किन्तु यह सहज नहीं। अहं का सर्प ज़रा सी चोट लगने पर अपना क्रोध रूपी फन फैला देता है और उसकी लपलपाती जिह्वा से कटुवचन रूपी विनाशकारी घातक गरल निःसरित होने लगता है। सर्वभाव से ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण के बिना 'अहं' का विषैला साँप वश में नहीं होता और न ही क्रोध के घातक विष से मुक्ति और जीवनदायिनी शक्ति

के परमानन्द की उपलब्धि होती है। इन्द्रियाँ मन और बुद्धि काम का आश्रय स्थल हैं, अत: काम और क्रोध पर विजय पाने के लिए बुद्धि द्वारा मन सहित इन्द्रियों का निग्रह साधना के भवन का प्रथम सोपान है।

इस विवेचना के बाद भी एक प्रश्न शेष रह जाता है वह है पाप की परिभाषा और पुण्य के स्वरूप का विवेचन। पाप और पुण्य की परिभाषा सरल नहीं यह बहुत कुछ व्यक्तियों के संस्कारों पर निर्भर करती है।

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं। प्रथम वे हैं, जो पाप और पुण्य का निर्णय पर-पीड़न और पर-सुख के आधार पर करते हैं। उनके मत में, जिस कर्म में अधिक लोगों को दुख से मुक्ति और सुख का आधार मिलता हो वह कर्म 'धर्म' और करणीय है। ऐसे लोग कर्म करने से पूर्व इस बात की विवेचना कर लेते हैं कि उनके कर्म से कितने लोगों को सुख और दुख मिलेगा।

दूसरे वे हैं, जिनकी दृष्टि में अधिक लोगों का सुख या दुख चिन्तनीय विषय न हो कर देश काल और परिस्थितियाँ ही धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य का आधार होती हैं। कर्म करते समय वे यह नहीं सोचते कि उनके कर्म से कितने लोगों को सुख अथवा दुःख होगा अपितु वे यह सोचते हैं कि अमुक देश में अमुक स्थान पर अथवा अमुक समय में कौन सा काम करना उन के अपने लिए और दूसरों के लिए कल्याणकारी है।

तीसरे वे हैं जिनकी दृष्टि अपने व्यक्ति से ऊपर उठती ही नहीं। वे अपने सुख के लिए दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में ही आनन्द की उपलब्धि करते हैं। उन के लिए धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य

कुछ भी चिन्तनीय नहीं होता। ऐसे लोगों को गीता अघायु पापी और उन के जीवन को "मोघं पार्थ स जीवति" कह कर व्यर्थ बताती है। ऐसे लोगों का कर्म कभी भी पुण्यमय नहीं होता।

मनुष्य स्वभावतः जल की धारा की तरह स्वच्छ है और स्वच्छ रहना चाहता है। किसी भी तरह का कालुष्य उसे अभीष्ट नहीं, किन्तु सांसारिक प्रलोभनों का एक ऐसा घना पर्दा उसकी आँखों के आगे आ जाता है कि वह धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य को देख और सोच ही नहीं पाता। अपना सुख और अपना आराम ही उसे सर्वोपरि दिखाई देता है। जब कभी सात्विक भाव के उद्रेक के समय उसे अपनी करनी का कुछ रूप दिखाई देता है, तो पश्चात्ताप की आग अन्तःकरण में जलने लगती है। यह पश्चात्ताप की आग जिस व्यक्ति के हृदय में जितनी तीव्र होती है, उतना ही वह व्यक्ति भविष्य में बुरे कर्मों से बचता है।

स्वामी विवेकानंद जी के शब्दों में "तुम्हें पवित्र होना नहीं पड़ेगा—तुम तो स्वरूपतः पवित्र ही हो। ....सारी प्रकृति देशकालातीत सत्य को ढके हुए है। तुम जो कुछ भी अच्छा विचार या अच्छा कार्य करते हो उस से मानो वह आवरण धीरे-धीरे छिन्न होता रहता है और देशकालातीत वह शुद्ध स्वरूप अनन्त स्वयं अभिव्यक्त होता रहता है। विपरीत इस के मनुष्य जितना इच्छाओं और वासनाओं में भटकता हुआ इन्द्रियों के विषयों में सुख को खोजता है, उस का परमपावन सत्स्वरूप उस से ओझल होता जाता है।" अतः स्पष्ट है वासनाओं से मुक्त शुद्ध-आत्मा सन्मार्ग का अनुसरण कर परमपद को प्राप्त करती है। बुद्धि द्वारा मन तथा इन्द्रियों का निग्रह कर मनुष्य, पापाचरण से छुटकारा पा सकता है।

अनिर्वचनीयम् प्रेम स्वरूपम्

अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम् मूकास्वादन वत्
सूक्ष्मतरमनुभवरूपं प्रतिक्षण वर्धमानम्
(नारद भक्ति सूत्र)

अर्थ—गूंगे द्वारा खाए पदार्थ के स्वाद के समान प्रेम का स्वरूप वाणी से कहा नहीं जा सकता। यह प्रेम किसी भी दृश्य वस्तु से अति सूक्ष्म है; अगोचर है; केवल अनुभूति का विषय है। सच्चा प्रेम समय के साथ प्रतिक्षण बढ़ता है, कभी धटता नहीं।

प्रेम मानव की स्वाभाविक प्रवृत्त है। यह आत्म विकास का सरल साधन है। वासना और स्वार्थ का कालुष्य इसे विकृत कर देता है। जब यह पवित्र स्रोत अपने निश्चित प्रवाह को छोड़ सांसारिक आसक्ति की अनेक धाराओं में विभक्त हो जाता है तब न केवल अपने स्वरूप से विकृत होता है अपितु गड्डों के गंदले जल के समान अपने आश्रय को भी शान्ति नहीं दे पाता। ऐसा प्यार जीवन का पोषक नहीं, घातक है। किसी भी अवस्था में ग्राह्य नहीं हो सकता। नदी, पर्वत-कंदराओं को चीरती हुई निकल पड़ती है अपने गंतव्य पथ पर। प्रिय की मिलनोत्सुकता उसकी लम्बी यात्रा को भी छोटा बना देती है। मार्ग की चट्टानें और कण्टकाकीर्ण मार्ग उसकी गति को रुद्ध नहीं कर पाते और न ही हरे-भरे उपवन उसे विश्राम के लिए लुभाने का साहस करते हैं।

उस से मार्ग की कितनी ही मरुभूमियाँ शस्य-श्यामल हो जाती हैं, किन्तु उस का जीवन लक्ष्य मरुभूमियों को शस्य-श्यामल

करना नहीं क्योंकि वह एक क्षण भी उन के लिए रुकती नहीं। लोग उस से नहरें निकालते हैं किन्तु उस की गति की दिशा नहीं बदलती। ऐसे ही प्रेम से भरा हृदय 'पूर्ण' देकर भी 'पूर्ण' रहता है क्योंकि उस का उद्देश्य पूर्ण प्रेम की प्राप्ति होता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

दाम्पत्य प्रेम, प्रेम की पराकाष्ठा नहीं। यह प्रणय का समुद्र अमृत और ज़हर दोनों को अपने में छिपाए हुए है। आप शंकर बनकर इस विष का पान संसार के कल्याणार्थ करो पर इतनी सावधानी से कि यह विष शरीर में व्याप्त न होने पाए। कवि प्रसाद के शब्दों में—

"प्रेम पवित्र पदार्थ न इस में कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे"॥
"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिस के आगे राह नहीं।
इस का यह सिद्धान्त, मिटा देना अस्तित्व सभी अपना।
प्रियतममय यह विश्व निरखना, फिर उसको है विरह कहाँ।
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में प्रत्युत जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।"

भक्ति और प्रेम तो, रोने-धोने और भीख माँगने वाली घृणात्मक अवस्था नहीं है। वह तो पूर्ण एकता, उज्ज्वल मधुरता, दिव्य निर्द्वन्द्वता की अनिर्वचनीय अवस्था है। वह तो सब में सब कुछ ईश्वर को ही देखना है।

—स्वामी रामतीर्थ

संसार

संसार क्या है ? सत्य क्या है ? सारे विश्व में किस की नियम सत्ता काम कर रही है ? कई बार ऐसे प्रश्न मस्तिष्क में घूम कर शान्त हो जाते हैं और कभी-कभी इस उलझन को सुलझाने का मार्ग, धुंधला सा प्रकाश दिखाई दे जाता है। संसार एक स्वप्न है, संसार माया के दर्पण में "चिद्" की परछाईं है, किसी वीणा की मृदु झंकार है, संसार क्षणिक है— बादलों में चमकती बिजली की तरह, पानी के बुदबुदे की तरह 'प्राण' इस संसार-सरोवर में दो क्षण के लिए क्रीड़ा कर रहे हैं। अन्त में सत्य मृत्यु ही है। "प्रश्नों" की उलझन से निकलने के बाद 'उत्तर' की उलझन बुरी तरह से अपने में उलझा लेती है। संसार सत्य ही मिथ्या है! स्वप्न है! कुछ भी हो, इस के पीछे एक महान् चेतन-शक्ति काम कर रही है, ऐसा तो नित्य ही अनुभव होता है। यदि स्वप्न है तो स्वप्न लेने वाला चेतन है, माया में चेतन का प्रतिबिम्ब तो चेतन की प्रत्यक्ष स्वीकृति है। वीणा की झंकार किसी चेतन द्वारा ही झंकृत हो रही है। बिजली और बुदबुदे की भी कोई आधार-भित्ति

है। अपने राम तो कुछ ऐसा ही सुझाते हैं कि अनन्त चेतन शक्ति से इस 'चिद्' संसार की उत्पत्ति है।

समुद्र की ओर नदियों की तरह किसी अज्ञात शक्ति अथवा प्रेरणा से आक्रृष्ट हुआ सारा विश्व किसी महान् सत्ता में विलीन होने को निरन्तर गतिशील है। नदी का जन्म सदूर पर्वत के गर्भ से होता है, पर समुद्र का आकर्षण उसे कण्टकाकीर्ण मार्ग में भी किस मस्ती से प्रवाहित किए रहता है, यह तो हम रोज़ ही देखते हैं। नदी अपना मार्ग स्वयं निर्माण करती है। कोई तीव्र आकर्षण उसे बलात् अपनी ओर खींच रहा है। इसी से बाधाएँ उसके लिए बाधा रूप न हो कर गति में त्वरा भर जाती हैं। नदी की आकुलता तो हम रोज़ देखते हैं, किन्तु समुद्र जिसके लिए क्षण-क्षण उबला करता है उस आकुलता की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। नदी सूर्य की गर्मी से क्षीण हुई नहीं कि समुद्र के प्रेम-कण बादलों के रूप में रिमझिम बरस पड़े। नदी कृत-कृत्य हो गई। पहले से कहीं अधिक मस्ती और तीव्रता को लेकर चल पड़ी अपने ही पथ पर।

भक्त भगवान् के लिए आकुल रहता है तो भगवान् भी भक्तों के लिए निशि-दिन विह्वल! संसार के तापों ने भक्त को सन्तप्त किया नहीं कि भगवान् की करुणा के कण किसी महान् पुरुष के उपदेशामृत के रूप में बरस पड़ते हैं। भगवान् की तो प्रतिज्ञा है— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। "कौन्तेय, प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति"। भक्त की तो बात ही क्या, वह तो भगवान् का साकार शरीर है। सारे विश्व के कल्याण के लिए प्रत्येक क्षण भगवान् के करुणा-समुद्र में ज्वारभाटा आया रहता है। संसार का दुखी से दुखी प्राणी भी एक सूक्ष्म

आन्तरिक शान्ति का अनुभव करता है और बुरे से बुरा प्राणी भी एक न एक दिन उस अनन्त शक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसके समक्ष नतमस्तक हो जाता है। भगवान् को संसार को दुखी करना अभीष्ट नहीं। ऐसे दयामय ईश्वर की अपार कृपा को भूल कर अहंकार में डूबने वाले प्राणी को क्या कहा जाए! अहं में डूबा प्राणी गन्दे गड्डे में पड़े गंगाजल की तरह सूर्य के ताप से जैसे-कैसे अनन्त समुद्र में पहुँच तो जाएगा, क्योंकि उसे वहाँ जाना है, पर संसार को पावन व प्रफुल्लित करने का श्रेय वह न पा सकेगा।

संसार-चक्र नाश और सृजन में प्रत्येक क्षण घूम रहा है। नित्य नई उत्पत्ति आँखों की गति को रोक जाती है और नाश विस्मयकारी इतिहास हृदय पटल पर अंकित कर जाता है। क्या यही सत्य है? नहीं, केवल यही सत्य नहीं इस नाश और सृजन के चक्र में घूमने वाला संसार भी सत्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः"

संसार में किसी भी चीज़ का नाश नहीं होता और न किसी चीज़ की नई उत्पत्ति ही होती है। पृथ्वी पर पड़ा जल सूर्य की गर्मी से सूख जाता है, हम समझते हैं जल का नाश हुआ पर जल फिर बादलों के रूप में बरस, एक नए ही रूप में हमें प्राप्त हो जाता है। साधारण प्राणी इस रहस्य को नहीं जानते, पर तत्त्वदर्शी लोगों से जल का यह भेद छुपा नहीं है। यह नाश और सृजन तो उसके चलने का टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है, जिसकी समाप्ति एक दिन अपार जल राशि में होगी। नश्वरता में अनश्वरता को छिपाए, अव्यक्त की अभिव्यक्ति, यही है संसार का सत्यरूप।

स्वस्थ शरीर-स्वस्थ आत्मा-परम-आनन्द

बहुत बार मन में विचार आता है, अशान्ति और दुख संसार का विधान क्यों बन गया है? गीता में भगवान् श्री कृष्ण इन्द्रियों के विषयों को "आगमापायिनोऽनित्याः" कह कर अनित्य पदार्थों में मनुष्य की आसक्ति को अशान्ति व दुख का कारण बताते हैं, जिसके अनुसार आज के युग की अशान्ति, दुख-दैन्य का कारण युग की देन भौतिकवाद है।

प्रकृति का बाह्य स्थूल रूप क्षण-क्षण में नाश की ओर बढ़ रहा है, किन्तु भोला मानव उसी का दास बन कर अमृतत्व की प्राप्ति करना चाहता है। रूप और यौवन को स्थिर रखने के लिए न जाने कितने वैज्ञानिकों ने मत्था-पच्ची की और कितने आगे करेंगे, पर प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति का रूप स्थिर नहीं हुआ और न होगा। भौतिक विकास सर्वथा उपेक्षणीय नहीं, यदि उसका उपयोग आत्मिक विकास के लिए साधन रूप में हो।

'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा का निवास होता है', बहुत दिनों से सुनी इस उक्ति पर जब भी मनन किया, नया ही

अर्थ सूझा। प्रकृति प्रत्यय का विग्रह करने पर 'स्वस्थ' का अर्थ होता है 'मूल स्थिति' अर्थात् किसी भी वस्तु का अपनी अवस्था में कृत्रिमता शून्य होना ही उसका 'स्वास्थ्य' है। उपनिषद् कहता है— "जब मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ स्थिर हो जाएँ और बुद्धि भी विचलित न हो, वही परम गति है और उसी को कहेंगे शरीर की 'स्वस्थावस्था'... ऐसे स्वस्थ शरीर में ही होता है स्वस्थ आत्मा का निवास।

आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं एक शुद्ध दूसरी अविद्यामय। अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा शरीर के भोगों को वैसे ही अपना लेती है जैसे जल में प्रतिबिम्बित छाया जल के गुणों को। यदि शरीर अपनी स्थिति में स्थित हो जाए तो मन एवं इन्द्रियों की निश्चल स्थिति में आत्मा अपने को पहचान लेती है, और शारीरिक भोगों को द्रष्टा मात्र बन कर देखती है फिर उस का सम्बन्ध शारीरिक भोगों से न होने के कारण वह कर्म-फल सुख-दुख से मुक्त हो जाती है। गीता की वाणी में "इहैव तैर्जित: सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मन:" भाव यह कि जिस व्यक्ति का मन सम अवस्था में स्थित रहता है, वह अपने जोवन काल में ही संसार को जीत लेता है। सुख-दुख से ऊपर उठ कर वह दिव्य आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

स्वामी भोले बाबा जी महाराज अपने मन को समझाने के व्याज से मानव मात्र को समझाते हुए कहते हैं, "हे मन! चेत! भोगों की आसक्ति को छोड़ दे। भोगों की आसक्ति ने तुझे दीन, दुखी, छोटा, रोगी बना रखा है, नहीं तो तूं न तो दीन है, न दुखी है, न छोटा है और न रोगी है किन्तु स्वतन्त्र, सुखी, महान् और निरोगी है।"

सुमति–सम्पत्ति

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ।।

अर्थ—सद्बुद्धि युक्त व्यक्ति अपनी सद्बुद्धि के प्रभाव एवं उपयोग से सभी प्रकार की सम्पत्तियों, ऐश्वर्यों एवं दैवी विभूतियों को भी सहज ही प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है; विपरीत इस के दुर्बुद्धि व्यक्ति अपनी दुर्बुद्धि के कारण केवल विपत्तियों का ही सृजन करता है ।

कवि शिरोमणि तुलसीदास के ये अमर वाक्य युग-युगान्तरों तक मानव समाज का मार्ग दर्शन करते रहें गे । रामायण में कैकेई की कुमति ने अपने परिवार के प्रत्येक प्राणी को विपत्तियों के घोर समुद्र में डुबो दिया । श्री राम जैसे आदर्श पुत्र को बनवास हुआ, दशरथ ने पुत्र वियोग में प्राण त्यागे, कैकेई ने अपने लिए स्वयं वैधव्य को निमन्त्रण दिया । राम, लक्ष्मण और सीता के वन-गमन से राम-भक्त प्रजा के मन में आक्रोश भर गया, किन्तु भरत ने राज्य का त्याग कर, बड़े भाई की पादुकाओं को सिंहासन पर धर,

स्वयं उसके प्रतिनिधि के रूप में राज्य का चौदह वर्ष तक प्रबन्ध कर, अपनी सुमति ही के कारण राम से भी अधिक यश का अर्जन किया। ऐसे पुत्र को जनम देने से, निन्दा की पात्र कैकेयी के लिए भी राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं :—

धन्य वह एक लाल की माई।
जिसने जना भरत सा भाई ॥

भाव यह कि एक व्यक्ति की कुमति ने जिस फले-फूले परिवार को विद्वेष की आग से नष्ट करने का प्रयास किया था, उसे दूसरे ने अपनी सुमति से स्वार्थ का त्याग कर पुनः सुख समृद्धि से भर दिया। इतिहास साक्षी है कि जयचन्द की कुमति ने भारत को सदियों तक गुलामो की जंजीरों में जकड़े रखा और महात्मा गाँधो आदि देश भक्तों की सुमति ने देश को स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वायुमण्डल में साँस लेने का सुअवसर प्रदान किया। तुलसी दास जी कहते हैं कि कुमति और सुमति सब के हृदय में रहती है—
"कुमति सुमति सब के उर रहहीं।"

किन्तु सोचने की बात यह है कि जब एक व्यक्ति अपनी "सुमति" से घर, समाज और राष्ट्र को स्वर्ग बना देता है, तो दूसरा अपनी कुमति से नरक का सृजन करता है, ऐसा क्यों? इस रहस्य को सुलझाते हुए गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं :—

विषयों का चिन्तन और सेवन करने से मनुष्य की सद् बुद्धि नष्ट हो जाती है, और इस सद्बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। विपरीत इसके उदार हृदय निःस्वार्थी मनुष्यों का मन और मस्तिष्क विमल विवेक से पूर्ण होता है, वह सद् और असद् को, भलाई और बुराई के परिणामों

को, निजी स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठ कर परखने और आँकने की क्षमता रखते हैं। उन के कर्म बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय होते हैं। यह विवेक प्रभु भक्ति और भगवदर्पण कर्म करने से प्राप्त होता है। यह विमल विवेक प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है। तुलसी दास जी के शब्दों में :—

तुलसीदास हरि गुरु करुणा बिनु,
विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि,
पार न पावे कोई ॥

भाव यह कि यदि हम चाहते हैं कि हमारी बुद्धि सत् असत् का विवेक करने में सक्षम हो, हम सांसारिक संघर्षों से जूझते हुए भी शान्त बने रहें, तो हमें सुमति की प्राप्ति के लिए भगवद् भक्ति के द्वारा भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं :—

"मामनुस्मरयुध्य च"

"मेरा निरन्तर स्मरण करो और संघर्षों का सामना करो।"

भाव यह कि ईश्वर का स्मरण करने से मनुष्य में सांसारिक संघर्षों से जूझने की शक्ति आती है और सुमति प्राप्त होती है।

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—"प्रत्येक आत्मा में अनेक दैवी शक्तियाँ छिपी रहती हैं। आन्तरिक एवं बाह्य प्रकृति को वश में कर के छिपे हुए देवत्व को प्रत्यक्ष करना ही जीवन का उद्देश्य है। हम में से प्रत्येक को इसी क्षण यह दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं ईश्वर का दूत बनूंगा। मैं प्रकाश का स्तम्भ बनूंगा। नहीं, मैं एक देवता बनूँगा।"

सत्य भाषण

ईश्वर प्राप्ति का प्रथम सोपान

ईश्वर को उसके गुणों के आधार पर वेदों, पुराणों और शास्त्रों में सत्, चित् आनन्द स्वरूप कहा गया है। ईश्वर सत् है। वह काल बन्धन से मुक्त कालातीत, अकाल पुरुष, शाश्वत, एवं सर्व व्यापक है। वह था, है और रहेगा। वह अजन्मा और अविनाशी है। उसके नियम अटल हैं। उस के सृष्टि चक्र की गति नित्य शाश्वत नियमों पर आधारित है। वह राग-द्वेष, इच्छाओं-आकाँक्षाओं से रहित, सदा एक रस, आनन्द स्वरूप है। यदि हम ईश्वर की निकटता पाना चाहते हैं तो हमें मन, वचन और कर्म से सत्य को अपनाना होगा। चेतन तो हम हैं, सत्य को अपनाने से परमानन्द स्वरूप परमात्मा स्वयमेव प्राप्त हो जाएगा।

शास्त्रों में कहा है—"देवो भूत्वा देवं यजेत्।" अर्थात् स्वयं देव रूप हो कर देव की पूजा करो। गाँधी जी कहते थे—"सत्य ही ईश्वर है।" जिसने सत्य को पा लिया उसने ईश्वर को पा लिया। मीरा ने सत्य को भव-सागर से पार उतरने की नौका कहा है :—

"सत की नाव, खेवटिया सतगुरु
भव सागर तरि आयो"

रामभक्त महाकवि तुलसी दास सत्य को सब से बड़ा तप और सत्यवादी के हृदय में ईश्वर का प्रत्यक्ष निवास मानते हैं—

"सत्य बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय सत्य है, ताके हिरदय हरि आप॥"

सभी वेदों शास्त्रों में ईश्वर के समान ही सत्य की महिमा का भी अपार वर्णन है। गीता में सत्य भाषण को वाणी का तप कहा गया है।

"अनुद्वेग करं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं हि यत्,
..............वाङ्मयं तप उच्यते।"

अर्थ—जो श्रोता के हृदय में भय, क्रोध आदि उद्वेगों को उत्पन्न नहीं करता, श्रोता के लिए प्रिय एवं कल्याण कारक है, ऐसा सत्य-भाषण वाणी का तप कहलाता है।

गीता के उक्त श्लोक में सत्य भाषण के साथ जिन दो बातों का आदेश है वे हैं— 'अनुद्वेगकरम्, प्रियहितम्' अभिप्राय यह कि सत्य बोलना तो परमावश्यक है, पर ऐसा सत्य नहीं जो श्रोता के अन्तःकरण को कष्ट दे और जिसे सुन कर उसके मुँह से सत्य-वक्ता के प्रति अनायास ही कटु शब्द निकल पड़ें और सत्य भाषण का प्रयोग, श्रोता के छिद्रान्वेषण के लिए नहीं, अपितु उसकी हित कामना से, अति ही मृदु शब्दों में किया जाना चाहिए। छिद्रान्वेषण के उद्देश्य से अहंकारपूर्ण स्वर में कटुशब्दों द्वारा कहा गया सत्य श्रोता, वक्ता दोनों को अशान्त करता है।

इस सन्दर्भ में जो एक और बात ध्यान देने की है, वह है— सत्य कहने और सुनने वाले की दुर्लभता। सत्य कहने वाला व्यक्ति, जिस के लिए सत्य कह रहा है, उस की अप्रसन्नता के भय से प्रायः सत्य कहने से हिचकिचाता है और श्रोता सच्चाई को जानते हुए भी अहंकार वश उसे स्वीकार नहीं करना चाहता अतः सत्य-भाषण की उपयोगिता और उस के आनन्ददायी होने की सार्थकता के लिए श्रोता का निरभिमानी और वक्ता का हितकामी होना नितान्त आवश्यक है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्

किए हुए शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल मनुष्य को अवश्यमेव भोगना पड़ता है। ईश्वर उसे कुछ भी क्षमा नहीं करता और न ही वह उसे दण्डित करता है। सुख, जिसे हम प्रभु की 'कृपा' अथवा 'दया' कहते हैं, और दुख, जिसे हम प्रभु का 'कोप' या 'दण्ड' कहते हैं, वे हमारे कर्मों के ही फल हैं। अच्छे कर्म— सत्याचरण, यज्ञ, दान, तप आदि इस लोक में आत्म-शुद्धि और आत्म-शान्ति के साधन हैं। इनके द्वारा मनुष्य को इस लोक में आत्म-शुद्धि और आत्म-शान्ति प्राप्त होती है और 'परलोक' अर्थात् दूसरे जन्म में भी आत्म-बोध और आत्मिक शान्ति की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार बुरे कर्म—झूठ, अन्याय, शोषण, दूसरों को दुख देने का प्रयास आदि मनुष्य की आत्मा को कलुषित एवं अशान्त बनाते हैं। श्री मद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—आत्मिक शान्ति सुख की सर्जक और दुखों की नाशक है, विपरीत इसके, अशान्ति दुख की सर्जक है। अशान्त मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता। शान्ति ईश्वर का धाम है। ईश्वर प्रकाश है, ज्योति है, उजाला है। मनुष्य जितना उसके निकट जाएगा, उतना ही उसकी बुद्धि से अज्ञान का आवरण हटता जाएगा और उसे अपनी मंज़िल की दिशा और मार्ग मिलता जाएगा।

सूर्य के निकट अंधेरा नहीं रह सकता वैसे ही प्रभु की निकटता में अज्ञान नहीं टिक सकता। कुकर्मी, सुकर्मी हो जाता

है। अशान्त को शान्ति मिलती है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यो, सम्यक् व्यवसितो हि सः॥

अर्थ—कोई मनुष्य चाहे कितना भी दुराचारी हो, यदि वह अनन्य भाव से ईश्वर का भजन करता है, तो उसे अच्छा व्यक्ति ही मानना चाहिए क्योंकि उसने अनन्य भाव से भगवद्भजन का ठीक रास्ता अपना लिया है अतः वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाएगा।

ठीक ही तो है, प्रभु भक्त के पास अज्ञान, राग द्वेष जैसी बुराइयाँ कैसे रह सकती हैं! प्रकाश के पास अन्धेरा कैसा! प्यार के सागर में द्वेष कैसा! एक बार उसकी शरण में जा कर तो देखो! सारे दुख, सुख में बदल जाएँगे। प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण संसार के तीनों तापों की एक मात्र औषध है। कहा हैं :—

> ईश चरणों में जिस की लगन लग गई,
> उस के जीवन में कोई कमी न रही।
>
> राम का रूप जन जन में दिखने लगा,
> द्वैत का भाव हिरदय से मिटने लगा।
> प्यार गंगा में जग वासना धुल गई।
> ईश चरणों में जिस की लगन लग गई,
>
> गीत में प्रीत में जग की हर रीत में,
> दिव्य ज्योति जगी प्राण के दीप में।
> श्वास प्रश्वास में गूंजी उस की ध्वनि।
> ईश चरणों में जिस की लगन लग गई,

समत्व योग—जीवन लक्ष्य

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का माध्यम शरीर है। शरीर की उपेक्षा करके हम आध्यात्मिकता को पनपा नहीं सकते। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति भौतिक विकास पर निर्भर है। प्रश्न उठता है क्या आज भौतिकता का विकास आध्यात्मिकता के प्रसार के लिए हो रहा है? जीवन क्या है, कभी समझने का कोई प्रयास करता है? अस्तित्व मात्र तो जीवन नहीं और न ही उद्देश्य हीन गति को सजीवता कहा जा सकता है। 'गति' –'क्रिया' जीवन के लक्षण का एक अंग है, इस में जीवन की पूर्णता तो नहीं।

'जीवन' और 'अस्तित्व' में महान् अन्तर है। अस्तित्व यदि झाड़-झंखाड़ है तो जीवन उसमें विकसित होने वाला सुमन-समूह। अस्तित्व दीपक है तो जीवन उसका प्रकाश। झाड़-झंखाड़ में पुष्प इसलिए नहीं उगता कि वह अपनी पंखुड़ियों की खाद बना कर झाड़ का पोषण करे और न ही दीपक का प्रकाश दीपक के घेरे को प्रकाशित करने के लिए है। पुष्प उगता है दशों दिशाओं को सुवासित करने के लिए और दीपक! वह तो तिल तिल जलता है संसार के अन्धकार को मिटाने के लिए। वह अपनी ज्वाला से कोटिशः दीपों को जलाने की क्षमता रखता है। कौन सा ऐसा कण है, जो उसके एक बार के ही स्पर्श से उसका रूप नहीं हो जाता! इसी को कहते हैं जीवन। शरीर के

पोषण को महत्त्व देने वाला भौतिकवाद क्या इस जीवन की रक्षा करना चाहता है ?

झाड़ की रक्षा होनी चाहिए और दीपक की भी। झाड़ की रक्षा के लिए माली बाड़ लगाता है और दीपक को वायु से बचाने के लिए अनेकों उपाय बरते जाते हैं पर रक्षक का दृष्टि-बिन्दु पुष्प तथा प्रकाश की रक्षा करना ही रहता है। जीवन रक्षा के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो सर्वथा ग्राह्य है, विपरीत इसके यदि अस्तित्व की रक्षा में जीवन की बलि देनी पड़े तो, जैसे पुष्प-पत्र से रहित ठूण्ठ से उपवन की शोभा नहीं बढ़ाई जा सकती वैसे ही मानवीय मूल्यों का नाश कर के रोटी कपड़े की समस्या का समाधान उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

उदाहरण के लिए सब को रोटी, कपड़ा और आवास उपलब्ध करवाने का दम भरने वाले आज के युग की उपज— समता-वाद, समाज-वाद, साम्यवाद और भी कितने ही सामाजिक समानता दर्शाते वाद लें और दूसरी ओर गीता का समत्व योग देखें तो दोनों में महान् अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। सभा में बैठे मूर्ख और पण्डित के समान अपने बाह्य रूप में समत्व योग और समानतावादी ये वाद भले ही एक से लगें किन्तु क्रिया जगत् में नितान्त भिन्न हैं। एक शरीर में समता लाना चाहता है, तो दूसरा हृदय में, एक के समत्व का आधार शरीर है तो दूसरे का हृदय। विष और अमृत में, संहार और निर्माण में जो अन्तर है, वही अन्तर आज के समतावादी वादों और गीता के 'समत्व' में है। तार्किक कहेगा— कभी २ प्राण रक्षा में विष का भी प्रयोग होता है, पर ध्यान रहे, तब विष का प्रयोग गुण वैपरीत्य अर्थात् अमृत के रूप में होता है, विष के

रूप में नहीं।

धर्म मानवता का प्राण है। दूसरे शब्दों में, धर्म ही जीवन है। अपने ऋषियों ने धर्म के दस लक्षणों में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया है और आचार की शुद्धता को जीवन पथ की प्रथम भूमि माना है। आज के उक्त वाद अपने क्रियात्मक रूप में इन दोनों का उल्लंघन करते हैं। इन वादों के सिद्धान्तों में मानवीय मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं। इन का पर्यवसान घृणा में और 'समत्व' का प्रेम की पराकाष्ठा में होता है। प्रेम का स्वरूप ही 'कामना-रहितम्' है। संसार प्रेम करना सीख जाए तो कहाँ रहेगा पूंजीवाद और कहाँ रहेगी घृणा !

इस में संदेह नहीं कि प्रेम की पहचान अत्यन्त कठिन है। लौकिक और अलौकिक प्रेम का भेद करना अति कठिन है। संसार का समुद्र खारा है पर वही जब त्याग-तपस्या रूप सूर्य के ताप से तप कर दिव्य प्रेम के समुद्र में जा मिलता है तो सृष्टि को हरा-भरा बना देता है। इसी से मेघ का नाम 'जीवन' है। तपस्या प्रेम को दिव्य बनाती है। ईश्वर-प्रेमी सृष्टि के प्रत्येक अणु परमाणु में अपने प्रिय को देखता है। प्रिय से प्यार का अर्थ है सब प्राणियों में, ईश्वर दर्शन, सब में सम दृष्टि। यही है गीता का समत्व-योग और यही है जीवन का एक मात्र लक्ष्य।

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिता: समदर्शिन: ॥

ज्ञानीजन ऊँच नीच के भेद-भाव का त्याग कर जीव मात्र में आत्मभाव रखते हैं। उन की दया-करुणा सब के लिए समान होती है।

तप सुखप्रद, दुख दोष नसावा

महाकवि तुलसीदास जी ने रामायण में तप को सुखप्रद और दुख का नाशक माना है। उन के विचार में तपस्या से ब्रह्मा सृष्टि का सृजन करते हैं, तप से विष्णु जगत् की रक्षा करते हैं, तप से ही शिव सृष्टि का संहार करते हैं। उनके विचार में तपस्या से मनुष्य अपने भाग्य को भी बदल सकता है। तप है क्या ? उसके स्वरूप को समझाने के लिए भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में तप को तीन भागों में विभक्त किया है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। दूसरों को बुरा न लगने वाला हितकारी सत्य भाषण, स्वाध्याय वाचिक तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मुनियों की सी वृत्ति को धारण करना, मन का निग्रह और भाव शुद्धि मानसिक तप है। उक्त तीन प्रकार के तप भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हैं। इन तीनों तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रख कर उत्तम

श्रद्धा से तथा योग युक्त बुद्धि से करे तो ये तप सात्विक कहलाते हैं और यदि इन तपों का आचरण केवल मान और सत्कार को पाने के लिए किया जाए तो वह दम्भपूर्ण तप राजस होता है। स्वयं कष्ट उठा कर, दूसरों को कष्ट देने के लिए किया गया तप तामस कहलाता है।

भाव यह कि मन, वचन और शरीर द्वारा, फल की आकांक्षा के बिना, निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों को करते रहना तप है। लोक कल्याण के लिए जीवन का उत्सर्ग करने वाले व्यक्ति कर्मयोगी हैं। गीता भारतीय संस्कृति का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें निष्काम कर्मों को मानसिक शान्ति और परमात्म-प्राप्ति का साधन माना है। गीता में निरूपित तप का अर्थ संसार का त्याग कर, जंगलों में जा कर शरीर को कष्ट देना नहीं है। गीता और रामायण के अनुसार तप से अभिप्राय निष्ठा पूर्वक निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन है और इसी तप में जीवन की सफलता निहित है। गीता कहती है ''अपने धर्म का पालन करते हुए अर्थात् कर्त्तव्य कर्म करते हुए यदि हमें अपने जीवन का उत्सर्ग भी करना पड़े तो वह श्रेष्ठ है और यदि किसी भय या प्रलोभन में पड़ कर हम अपने कर्त्तव्य का त्याग कर दें तो वह हमारे लिए हितकर नहीं। अतः हमें हमेशा अपने मन से बुरे भावों को दूर रख कर, इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। मन हमारी सब इन्द्रियों का राजा है। मन के निग्रह से इन्द्रियाँ स्वयमेव हमारे वश में आ जाएँगी और हम अनासक्त भाव से लोक-कल्याणकारी कर्म करने में समर्थ हो सकेंगे। ऐसे कर्म ही दुखों का नाश कर सुखों का सर्जक करते हैं।

वाणी की शक्ति

भारतीय संस्कृति में वाणी को देवता माना गया है। इसमें अनुपम शक्ति है। यह मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र एक पल में बना देती है। वाणी के संयम को परम तप कहा गया है। सन्त शिरोमणि कबीर दास जी कहते हैं :—

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आप हुँ शीतल होय ॥

सर्वविदित सत्य है कि एक मधुर वचन सन्तप्त मन को शान्त कर देता है, विपरीत इसके कड़वा वचन तन मन में आग लगा देता है। वह न केवल श्रोता को कष्ट पहुँचाता है, अपितु कई बार वक्ता के भी सर्वनाश का कारण बनता है।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के बाद जब दुर्योधन ने मय-निर्मित सभा-गृह में जल के सरोवर को सूखी भूमि समझ कर अपने बहुमूल्य वस्त्रों को भिगो दिया तो भीम की उपहास-पूर्ण हँसी और द्रौपदी के कटु वचनों ने दुर्योधन के हृदय में विद्वेष की वह आग सुलगाई कि जिससे सारा कौरव वंश नष्ट हो गया और पाण्डवों को भी आनेकानेक कष्टों का सामना करना पड़ा। मनु महाराज ने कहा है :—

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्
ब्रूयान्न सत्यमप्रियम्

अपनी वाणी का प्रयोग प्रिय सत्य भाषण के लिए करो 'अप्रिय' अर्थात् किसी के हृदय को सन्तप्त करने वाला सत्य कभी न बोलो। मीठी वाणी बोलने का यह अभिप्राय कभी नहीं कि हम दूसरों की झूठी बड़ाई या चापलूसी करें, अथवा अपने प्रियजनों को हितकामना से उन के दोष उन्हें बताएँ ही नहीं।

यह भी सत्य है कि जब हम किसी के कटु वचनों को शान्त मन से सहन कर लेते हैं तो कटु वचन बोलने वाला व्यक्ति खुद ही लज्जित हो कर अपनी गलती मान लेता है। भगवान् बुद्ध के जीवन की एक बड़ी ही मर्मस्पर्शी घटना है। एक बार महात्मा बुद्ध के शिष्य देवदत्त ने, जो उनकी कीर्त्ति के प्रति ईर्ष्यालु था, बड़े ही कटु शब्दों में उनकी निन्दा की। यह सब देख उनके अन्य शिष्य बड़े ही उत्तेजित हुए, परन्तु महात्मा बुद्ध शान्त रहे, उन्होंने देवदत्त को कोई उत्तर नहीं दिया। जब शिष्यों ने पूछा— "भगवन्! आप देवदत्त के आरोपों का कोई उत्तर क्यों नहीं देते ?" तथागत ने मुस्कराते हुए अत्यन्त शान्त भाव से कहा— "यदि मैं देवदत्त के आरोपों का उत्तर देता हूं तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि मैं उसके शब्दों को ग्रहण कर रहा हूँ, जब मैं ने उसके शब्दों को ग्रहण ही नहीं किया तो उनका उत्तर कैसे दूं ?" यह सुन कर सभी शिष्य शान्त हो गए और देवदत्त लज्जित हो कर तथागत के चरणों में गिर पड़ा।

इस में सन्देह नहीं कि जहाँ प्रेम और क्षमाशीलता से वाणी क्रूर से क्रूर व्यक्ति का हृदय जीत कर असम्भव को सम्भव कर देती है, वहाँ कटु शब्द बने बनाए काम को बिगाड़ कर मित्र

को भी शत्रु बना देते हैं। अंग्रेज़ी के एक लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि अपनी सच्चाई को सिद्ध करने के लिए भी हमें कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

"When you are in the right, you can afford to keep your temper, and when you are in the wrong, you cannot afford to loose it."

अर्थात् जब तुम्हारी बात सही है तो क्रोध रोकने में तुम्हारा नुकसान नहीं और जब तुम्हारी गलती हो तो क्रोध करना तुम्हारे लिए उचित नहीं।

भाव यह कि अभिमान रहित मीठी वाणी श्रोता और वक्ता दोनों को शान्ति देती है अतः वाणी की शक्ति को पहचानते हुए हर अवस्था में हमें मृदु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए।

कहा भी है :—

निर्मल वाणी मिली है प्राणी,
राम नाम गुण गाने को।
मीठी रचना सत्य वचन की,
शान्ति सुधा बरसाने को।

——

पावन वाणी गंगाधारा
कर न दूषित कटु-वचन से
बोल मृदुल तज अहं भाव को
जन-मन सुखद बनाने को।

धर्म तत्त्व

धर्म मनुष्य के अन्दर मानवत्व का परम विकास है। मनस्वियों ने इस की परिभाषा—"धारणात् धर्मः" की है। जैसे दाहकता के बिना आग आग नहीं रहती, इसी प्रकार धर्म के अभाव में मनुष्य ,मनुष्य नहीं होता। कहा है :—

आहार निद्रा, भय मैथुनञ्च,
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥

अर्थात्—खाना, सोना, डरना, सन्तानोत्पत्ति, आदि वृत्तियाँ मनुष्य और पशु में एक जैसी होती हैं, केवल धर्म ही है, जो मनुष्य को पशु से अलग करता है। धर्म सम्प्रदाय या मजहब नहीं, धर्म मनुष्यता की मूल भूत उदात्त प्रवृत्तियों का एकीकरण है। मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बताए हैं :—

धृति, क्षमा, दमोऽस्तेयम्,
शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः,
दशकं धर्म लक्षणम् ॥

धृति — अपनी स्थिति से सन्तोष व दूसरों की उन्नति देख कर ईर्ष्या न करना।

क्षमा — अपने साथ बुरा व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति बदले की भावना का त्याग।

दम — चित्त को विचलित करने का विषय प्रस्तुत रहने पर भी मन को संयमित रखना।

अस्तेय — अन्याय से धन का संग्रह न करना।

शोच — शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक पवित्रता-पानी आदि से शरीर को, सत्य से मन को, ज्ञान से बुद्धि को, और आत्मज्ञान एवं तप से जीवात्मा को शुद्ध रखना।

इन्द्रिय निग्रह—सभी इन्द्रियों को उनके आकर्षक एवं प्रिय विषयों के ग्रहण करने से दूर रखना।

धी — शास्त्रों के तत्त्व का ज्ञान होना।

विद्या — आत्म-ज्ञान—आत्मा के स्वरूप को जानना।

सत्य — यथार्थ ज्ञान—जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा जानना, वैसा कहना, वैसा ही आचरण करना।

अक्रोध — क्रोध न करना—क्रोध के उत्पादक कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रहना।

ये दस गुण धर्म के लक्षण हैं और इन के अनुसार आचरण करने वाला 'मनुष्य' ही 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी है।

"धर्म अनुभूति की वस्तु है—वह मुख की बात, मतवाद अथवा युक्ति मूलक कल्पना मात्र नहीं—चाहे वह कितनी ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना—उस का साक्षात्कार करना, यही धर्म है।

—स्वामी विवेकानन्द

मनुष्य : दो रूप

हर मनुष्य के अन्तर्मन में दो तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं, गीता के अनुसार, आसुरी और दैवी। आसुरी प्रवृत्तियाँ विनाशकारी मार्ग की ओर अग्रसर करती हैं, जब कि दैवी प्रवृत्तियाँ कल्याणकारी उत्थान के रास्ते की ओर ले जाती हैं। हम व्यावहारिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि एक इन्सान के अन्दर दो इन्सान हैं— एक फरिश्ता, दूसरा शैतान। फरिश्ता कहता है अच्छे काम करो, दूसरों के सुख में अपना सुख देखो। पर शैतान! अपने लिए सुख इकट्ठा करने की प्रेरणा देता है। दूसरों को दुख दे कर वह प्रसन्न होता है। मनुष्य के लिए बड़ा मुश्किल है इस बात का निर्णय करना कि वह फरिश्ते की बात माने या शैतान की। अपना सुख सब को प्यारा लगता है, इसलिए मनुष्य को शैतान की बातें अच्छी लगती हैं। किन्तु ऐसा करते, वह भूल जाता है कि वह सृष्टि में अकेला नहीं है। यदि वह किसी कमज़ोर प्राणी को दुख दे कर सुख प्राप्त कर सकता है तो उसका सुख छीनने वाले, उस से शक्तिशाली, अनेकों प्राणियों से सृष्टि भरी पड़ी है। मनुष्य जो दूसरों को देता है प्रतिदान में वही पाता है अतः प्रश्न उठता है कि हमें दूसरों को सुख बाँट कर सुख देने वाले मित्रों की संख्या बढ़ानी चाहिए या दुख बाँट कर दुख देने वाले शत्रुओं की संख्या बढ़ानी चाहिए ? बुद्धिमान् व्यक्ति इसका निर्णय स्वयं ले सकता है।

हमारा कर्त्तव्य क्या है, हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका ज्ञान हमें शास्त्र देता है। शास्त्रों में महान् मेधावी, त्यागी, तपस्वी ऋषियों के अनुभव संकलित हैं। उन अनुभवों को पढ़ कर अथवा सुन कर हम अच्छे बुरे का विवेक प्राप्त कर सकते हैं। वेद कहता है—

"उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।"

उठो, जागो, तत्त्वज्ञानी महान् व्यक्तियों के चरणों में बैठ कर ज्ञान प्राप्त करो।

दूसरे शब्दों में— अपने मन में ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट इच्छा जागृत करो। मन और इन्द्रियों को पूर्णरूपेण संयमित कर, एकाग्र मन से शास्त्रों के पठन, मनन और चिन्तन से ज्ञान प्राप्त करो। उनके द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण करो। संयमित मन से प्रकृति के रहस्यों को जानो। सृष्टि का हर कण वरदायी है। विधाता ने प्राणियों के भरण-पोषण के लिए अनगिनत वरदान बिखेर रखे हैं, आवश्यकता है उन्हें जानने की। वेद कहता है— "निबोधत।" मनुष्यो ! विधाता के दिए हुए वरदानों को अपने अनुभवों से जानो और जीवन के उत्थान के लिए उनका उपयोग करो। इसी वेद वाणी को गीता में अधिक सरल और स्पष्ट करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं :— मनुष्य जीवन में परम सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिए आत्म-ज्ञान को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि

"सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" श्री मद्भगवद् गीता

सब कर्मों का अवसान ज्ञान में होता है। यज्ञ, दान, तप, कर्म भगवत्-प्राप्ति के लिए किए जाते हैं, परन्तु ईश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। अतः भगवान्

श्री कृष्ण कहते हैं :—

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

ज्ञान के समान और कुछ भी पवित्र नहीं। यद्यपि श्रद्धापूर्वक इन्द्रियों को संयमित करके, योगयुक्त हो, निष्काम भाव से कर्म करने पर मनुष्य स्वयं भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु यदि उसका मनन, चिन्तन इतना सशक्त नहीं कि वह सत्य के स्वरूप को स्वयं जाने, तो उसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी व्यक्तियों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति में निरभिमानिता, गुरु के प्रति श्रद्धा एवं सेवा भावना और सत्य को जानने की इच्छा से प्रश्न करने की क्षमता आदि गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। उक्त गुणों से युक्त व्यक्ति को तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग सद् ज्ञान देने में कृपणता नहीं रखते। आवश्यकता है मन में सच्ची श्रद्धा को जागृत करने की।

गीता में श्रद्धा के तीन प्रकार कहे गए हैं : सात्विक, राजस और तामस। किसी मनुष्य में किस प्रकार की श्रद्धा है, इसका ज्ञान व्यक्ति के व्यवहार से होता है क्योंकि उसकी श्रद्धा उसकी प्रकृति एवं स्वभाव के अनुसार होती है और वह अपनी श्रद्धा के अनुसार ही आचरण करता है। गीता के अनुसार "यो यत्श्रद्धः, स एव सः।" अर्थात् मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है। सात्त्विक व्यक्ति देवताओं का यजन करते हैं। देव यजन का अर्थ है— परोपकारार्थ निष्काम कर्म करना। जो मनुष्य तन, मन, धन एवं बौद्धिक योग्यताओं का उपयोग जन कल्याण के लिए करते हैं, उनका स्वभाव व श्रद्धा सात्विक होती है। जो व्यक्ति स्वार्थ को सम्मुख रख कर यक्ष और राक्षसों का यजन करते हैं, अर्थात् अपने लाभ के लिए अच्छे-बुरे कर्म करते हैं,

उन की श्रद्धा राजस है। रजोगुण मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त तो करता है किन्तु ऐसे लोगों के कर्म 'परहित' की अपेक्षा 'स्वहित' के प्रति अधिक केन्द्रित होते है। तामस वृत्ति के लोग भूत प्रेतों की उपासना करते हैं। उनका आचरण शास्त्र विरुद्ध, दूसरों को कष्ट देने वाला होता है। वे दम्भ और अभिमान के वशीभूत हो कर जीवमात्र को कष्ट पहुँचाते हैं। व्यावहारिक जगत् में डाकू, कातिल व भ्रष्ट आचरण के लोग इसी श्रेणी में आते हैं।

स्वभाव एवं प्रकृति मनुष्य जन्म से ही अपने साथ लाता है। उसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं होती, ऐसी बात नहीं। यद्यपि पूर्व जन्म के संस्कार मनुष्य अपने जन्म के साथ लाता है और वे संस्कार उसके स्वभाव, प्रकृति एवं श्रद्धा के निर्माण का मूल होते हैं, किन्तु उत्थान एवं पतन के शाश्वत नियम का अपवाद नहीं होते। वर्तमान जीवन का वातावरण—सत्संगति, स्वाध्याय एवं तप, पूर्व जन्म के संस्कारों को बदल कर तामस और राजस श्रद्धा के व्यक्ति को सात्त्विक श्रद्धा का व्यक्ति बना देता है। अतः मनुष्य को आत्म-निरीक्षण द्वारा सदैव उत्थान के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

एफ० जे० अलेकजेन्डर के शब्दों में—सदा सावधान रहो। जो सभी शुभ वस्तुओं के दाता हैं उन के प्रति सभी कुछ समर्पित कर दो। जो तुम्हें आध्यात्मिक मार्ग पर स्थिर रखे, फिर चाहे वह मृत्यु का भय ही क्यों न हो, उसे दृढ़ता से पकड़ रखो। ... ... अविचल, निष्ठावान्, उद्यत चित्त, सदाचारी बनो तथा प्रत्येक क्षण एवं अवसर का लाभ उठाओ। पथ बहुत लम्बा है। समय भाग रहा है।"

(समाधि के सोपान में से उद्धृत)

पूर्ण समर्पण

बच्चा माँ की अँगुली पकड़े, भीड़ भरे बाज़ार में, उछलता कूदता, माँ से बातें करता, निर्भय, सुरक्षित, प्रसन्न चित्त, अपने पथ पर बढ़ता जाता है। उसके सामने, दाएँ-बाएँ, अथवा पीछे से गाड़ी, स्कूटर, घोड़ा अथवा गाय आदि कोई पशु आ रहा है, उससे कैसे बचा जाए, इसकी चिन्ता बच्चे को नहीं, माँ को होती है। माँ मार्ग की सभी बाधाओं और कठिनाइयों से बचाती हुई बच्चे को निश्चित स्थान पर पहुँचा देती है। बच्चा सभी तनावों से मुक्त, सुरक्षित, अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। यदि हम भी उस सर्व शक्तिमयी जगज्जननी माँ की अँगुली पकड़ लें तो फिर किस में शक्ति है कि जो हमारे मार्ग को अवरुद्ध करे, या हमें पीड़ित करे। वह जगज्जननी, सर्वशक्तिमयी है। हम उसकी शरण में जा कर तो देखें! कितना सुख! कितना आनन्द! प्रदान करते हैं उसके अभयदायी हाथ! गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

भाव यह कि जो मनुष्य अनन्य भाव से, सभी सांसारिक कामनाओं

को त्याग कर केवल ईश्वर का चिन्तन करता है, जिसका प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण होता है, ईश्वर उसके योग-क्षेम का वहन स्वयं करते हैं। वह परमपिता परमात्मा उसके लिए सभी प्राप्य वस्तुओं को प्राप्त करवाता, तथा प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण एवं संवर्धन भी करता है। ईश्वर शरणागत व्यक्ति को न तो किसी वस्तु की प्राप्ति की आकाँक्षा रहती है और न ही प्राप्त वस्तु की रक्षा की चिन्ता। वह माँ के संरक्षण में बढ़ रहे शिशु के समान चिन्ता-मुक्त एवं प्रसन्न रहता है। जो कुछ उस के लिए कल्याणकारक है वह प्रभु उसे स्वयमेव प्राप्त करवा देते हैं और उस के जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक सभी अवरोधों को सर्वथा दूर कर देते हैं। वह अपने भक्त का कल्याण एवं उत्थान चाहते हैं।

दुख का कारण हमारा 'अहं' और 'ममत्व' है। यह मैं कर रहा हूं : इस कार्य की सफलता मेरे लिए लाभप्रद है और असफलता हानिकारक। यह वस्तु मेरी है। मुझे अमुक वस्तु, अमुक पद अथवा अमुक सम्मान प्राप्त होना चाहिए, ऐसी इच्छाओं और आकांक्षाओं से घिरा मनुष्य निरन्तर चिन्तित एवं दुखी रहता है। किन्तु जब वह यह सोच लेता है कि मैं तो ईश्वर के हाथ का 'यन्त्र' मात्र हूं, मेरी सफलता असफलता मेरी नहीं, मेरा अपना कुछ भी नहीं; तो वह मानव जीवन के परम लक्ष्य— शान्ति एवं सुख को प्राप्त करता है।

भगवान् की दृढ़ घोषणा है "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति"—गीता

अर्थ —हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह निश्चयपूर्वक जान लो कि मेरे भक्त का कभी अकल्याण नहीं होता।

विश्वास

एक रोज़ निश्चित आयेगा।
तार-तार हो भ्रम का परदा,
संशय मन का मिट जाए गा।
एक रोज़ ... ...
रूप ज्योत्स्ना शीतल जल से,
निज मन शिशु को नहलाऊँगी।
पावन प्यार परस से भोला,
आँख मूंद कर सो जाएगा।
एक रोज़ ... ...
देख-देख उस दिव्य छटा को,
थकित नयन मैं सहलाऊँगी।
तैर ब्रह्म सरवर में निर्भय,
हँस आनन्दित मुसकाएगा।
एक रोज़ ... ...
मुक्ति के क्षण ज्ञान विरति से,
काटेंगे युग-युग के बन्धन।
अहंभाव की धुंध छँटेगी,
नव ज्योति नभ बरसाएगा।
एक रोज़ निश्चित आयेगा।

गीत

मुझे ना सुनाओ तमस की कहानी,
अभी दीप मेरे में जलती है बाती।
अँधेरों में यह भर रहा है उजाला,
शिराओं में है रक्त बहता ना पानी।
मुझे ना सुनाओ तमस की कहानी।

साँसों में संगीत प्राणों में सौरभ,
सदा जलते रहने का वरदान पाया।
निष्कम्प जलती यह कहती शिखा है,
कलुष ध्वस्त करने की मन में है ठानी।
मुझे ना सुनाओ तमस की कहानी।

नहीं देख पाई तुम्हारी ये आँखें।
खिला फूल जा कर वीराने में कैसे,
मृदु गंध फैली पवन में जो मिल कर,
पलक भर में धरती हुई नव सुहानी।
मुझे ना सुनाओ तमस की कहानी।

मुस्काएँ कलियाँ हँसें फूल प्यारे।
मधुर हास ऊषा का जब नभ में छाए,
परम जोत में फिर मिले दीप ज्योति,
यही नाश की है अनश्वर रवानी।
मुझे ना सुनाओ तमस की कहानी।

गीत

झन झनन झनन, झन झनन झनन
है नाच रहा अलमस्त पवन,

कलियों को लेकर बाहों में,
कुंजों की शीतल छाओं में,
भँवरे गाते गुन गुनन गुनन
है नाच रहा अलमस्त पवन

लहरों की झांझर झनक रही,
चुपके छुपके वेणु बजती।
कुंकुम बिखरे कण कनन, कनन।
है नाच रहा अलमस्त पवन।

माला की मणियाँ बिखर गई,
रवि किरणें चुन-चुन डाल रहीं,
सोने की डिबिया खनन खनन।
है नाच रहा अलमस्त पवन।

मैं भूल गई सोना जगना,
मन झूले अम्बर का पलना,
अधरों पर थिरके तन नन नन
है नाच रहा अलमस्त पवन

झन झनन झनन, झन झनन झनन।
है नाच रहा अलमस्त पवन,

अज्ञात छलिया

आँख मूँद मैं देखूँ सजनी,
रिमझिम बादल बरसे,
बूंद-बूंद ज्योति-कण बिखरे,
खिल-खिल अम्बर हँसे।

श्वेत-पीत आभा फैलाकर,
नीलिमा नभ में दमकी।
हरियाली लहराई धरा पर,
अरुणिमा चहुँ दिशि छिटकी।

मैं जड़ बैठी निज में खोई,
उर की भूली पीड़ा।
जान न पाई उस छलिये को,
जिस की थी यह क्रीड़ा।

नाता मेरा तेरा

इस पार भी तू उस पार भी तू,
नदिया भी तू और धार भी तू।
तट भी तू है मँझधार भी तू,
नैया और खेवनहार भी तू॥

मेरा तेरा इक नाता है,
छाया आतप कहलाता है।
आतप संग रहती छाया है,
जग 'सत्' प्रतिबिम्बित माया है।

छाया में तेरी ज्योति है,
नित सघन क्षीण जो होती है।
जब छाया परदा हट जाए,
फिर तम आतप में सिमट जाए॥

गीत

मैं पूछ रही हूँ तुझ से,
तू कुछ तो मुझे बता दे।

पल में बरसे पानी गगन से,
पल में धूलि उड़ती।
खेल रहा है कौन खिलाड़ी,
जीत हार है किस की ?

अगम अगोचर उस क्रीड़क को,
देखे और दिखा दे।
मैं पूछ रही हूँ तुझ से,
तू कुछ तो मुझे बता दे।

मेरे मानस-पट पर लिखता,
कौन शान्ति की गाथा।
कौन उठा कर संशय अनगिण,
घायल अन्तर करता।

छिप कर लक्ष्य वेधने वाले-
का तू मुझे पता दे।
मैं पूछ रही हूँ तुझ से,
तू कुछ तो मुझे बता दे।

मेरे मन में उठें बवण्डर,
कैसे तुझे बताऊँ!
टूट न जाए डोर आस की,
सोच-सोच घबराऊँ।

थामा दामन मैंने जिस का-
वह न कहीं छुड़ा ले।
मैं पूछ रही हूँ तुझ से-
तू कुछ तो मुझे बता दे।

दयासिंधु करुणाकर स्वामी,
कह कर नमन करूँ मैं।
निष्ठुर मेरी पीड़ न जाने,
कोटिक नाम धरूँ मैं।

दयालु है या निष्ठुर है तू,
भ्रम यह आज मिटा दे।
मैं पूछ रही हूँ तुझ से,
तू कुछ तो मुझे बता दे।

अनावृत द्वार

अनावृत द्वार मैं रखती,
कहीं न लौट जाए मीत।
निरन्तर ध्यान में खोई,
गुनूँ मैं मधुर उस के गीत।

वह फूलों में छिपा बैठा,
लता का झूलता झूला।
पवन पग थिरकता नाचे,
नदी की लहर में हँसता।

बुलाता वह मुझे छिप-छिप,
हिला कर डाल वृक्षों के।
बजाता बाँसुरी मीठी,
लता पादप के कुंजों में।

सखि ! तुझ को बताऊँ क्या,
मैं पगली ढूँढ़ती बन-बन।
छवि उस की जो लख पाऊँ,
हो मेरा धन्य यह जीवन।

मिटे संताप हिरदय का,
जुड़ाऊँ नयन मैं अपने।
चरण धूलि में मिल जाऊँ,
हों मेरे सत्य सब सपने।

तड़पता जीव यह मेरा,
बिना जल मीन सा आलि !
कली यह सूख जाएगी,
यदि आया ना बन माली।

बता दे यह मुझे कोई,
कहाँ है मीत वह मेरा ?
जो ज्योति प्राण में भर कर,
तमस का तोड़ता घेरा।

जगती का कर्णधार

हे जगती के कर्णधार !
क्यों बैठा आँखें मूंदे ?
कौन चढ़े नौका में तेरी,
कौन कहाँ जा उतरे !

कौन चुराता गठरी किसकी,
किसकी लज्जा लुटती !
तू चुप बैठा नाव चलाए,
मुख से कहे न कुछ भी ।।

रोता चिल्लाता जग सारा,
तेरी ओर निहारे ।
गूंगा, बहरा केवल द्रष्टा,
जग की नाव चलाए ।।

द्रष्टा बनकर तू जगती को,
कर्मों का फल देता ।
फल से कर्म कभी न छूटे,
जो करता वह भरता ।।

न्यायाधीश कर्मफल दाता,
उच्च सिंहासन तेरा ।
मूरख अहं भाव में भूले,
कहते मेरा मेरा ।

गीत

धूल का आया बवण्डर,
सब उड़ा ले वो गया।
डाल पर था झूलता जो,
सुमन रज में खो गया।
धूल का ... ...

अपनी भीनी गंध से जो,
खींचता मन पथिक का।
सूख कर बिखरा धरा पर,
धूलि में मिल सो गया।
धूल का ... ...

सूर्य किरणें चूमती थीं,
जिस का प्यारा तन-बदन।
वायु की घातक लहर से,
किनका-किनका हो गया।
धूल का ... ...

चाँदनी रोई गगन में,
आँख भू की नम हुई।
पर सुमन निज बीज में नव,
रूप अपना बो गया।
धूल का ... ...

घूमता सृष्टि का चक्का,
नित नये घट गढ़ रहा।
टूट कर मिट्टी हुआ जो,
फिर नया घट हो गया।
धूल का ... ...

भूल कर भी सोच मत मन,
नाश तेरा अन्त है।
ज्योति में जल कर पतंगा,
ज्योति का कण हो गया।
धूल का ... ...

नाश का हर क्षण सृजन का,
मधुर मादक गीत है।
अमर है वह जन जगत् में,
स्वर मिला गा जो गया।

धूल का आया बवण्डर,
सब उड़ा ले वो गया।

गीत

खोज रही आकार ओम् का,
ज्योति गोलक उर अम्बर का।
श्वेत शुभ्र आभा बिखरा कर,
हर लेता जो तम हिरदय का।
खोज रही ... ...

शत्रु बन कर यह मन मेरा,
रार लगाता शोर मचाता।
साधन ध्यान निरत चेतन को,
कसता फँदा लोभ मोह का।
खोज रही ... ...

कोई अन्तर में बैठा है,
पढ़े गुणे श्रुतियों की वाणी।
पर मूरख अज्ञानी मनवा,
श्रवण करे न सत्य ज्ञानका।
खोज रही ... ...

सुख पाने को आकुल-व्याकुल,
माया का कर थामे दौड़े।
तम में मोती मान सीप को,
विपथ चले तज पथ ज्योति का।
खोज रही ... ...

नाशक डगर मरुथल तृष्णा,
इक पल चैन न लेने देती।
आस निरास की कड़ी धूप से,
सोखती जीवन-रस तन मन का।
खोज रही ... ...

दया करो तुम भगवन् मेरे,
मोहक माया बन्धन काटो।
शान्ति ज्योति छिटका अन्तर में,
दूर करो परदा दुख-भ्रम का।

खोज रही आकार ओम् का,
ज्योति गोलक उर अम्बर का।

माँ की मूरत

उदयाचल के स्वर्ण भवन में,
माँ की मूरत देखी।
हर्षाई मैं भाव-मुग्ध हो,
सुधि न रही इस तन की।

चूनर से बादल लहरायें,
चम-चम चमके झालर।
ओढ़ चुनरिया रीझी मैया,
देखे दर्पण सुन्दर।

शान्त तटों में जल की धारा,
फ्रेम जड़े दर्पण सी।
बिम्बित नभ का भोला मुखड़ा,
उज्ज्वल विभा विभासित।

लहरों के चंचल चिकुरों में,
अरुण-किरण का कुंकुम।
पादप झूलें कर्ण-फूल से,
मंद पवन में रुण-झुन।

निरख-निरख उस दिव्य रूप को,
नयनन नीर बहाऊँ।
चरण-कमल में नत-मस्तक हो,
प्राणन भेंट चढ़ाऊँ।

अपने चरणों से, हे मैया!
कभी विलग न करना।
मेरी खाली झोली को माँ!
अपने प्यार से भरना।

यंत्र और यंत्री

मैं हूं तेरा यंत्र प्रभुवर,
तू है यंत्री मेरा।
वैसे घूमूँ जैसे घुमाओ,
ज्यूं चक्के का फेरा।

हर पल चाक घुमाते रहते,
इच्छा से घट गढ़ते।
अपनी इच्छा से ही उन में,
भोग्य पदारथ धरते।

स्वयं करो निर्णय तुम इसका,
कौन है किस के लायक।
बाँट रहे हो सब कुछ सब में,
सम-द्रष्टा सुखदायक।

अमृत-विष तुम सब पीते हो,
लोभ-क्षोभ न तुझ को।
कर्त्ता-भोक्ता घट का तू है,
सत्य ज्ञान दे मुझ को।

विविध रूप में एक तुम्हीं हो,
वेद-शास्त्र हैं कहते।
तुझ को पाने के हित फिर क्यों,
मेरी आत्मा तड़पे।

गीत

क्यों मन मुझको भरमाता है,
यह बिरथा रार लगाता है।
जग का सुख-दुख से नाता है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

दुनिया की अजब कहानी है,
यह दुनिया बहता पानी है।
बह जाए लौट नहिं आता है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

यह मन पंछी सा उड़ता है,
नित विषयों के कण चुनता है।
दुख व्याध देख न पाता है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

माया का कीचड़ चमक रहा,
यह मुक्ता उसको समझ रहा।
फँस दलदल में पछताता है,
क्यों मन मुझको भरमाता है।

क्षण एक फूल जो खिलता है,
वह अन्त धूल में मिलता है।
यह नश्वर जग की गाथा है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

बीता बचपन रोते-गाते,
बीता यौवन सुख-दुख पाते।
अब वृद्ध हुआ घबराता है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

तू सिमरन कर ले ओम् नाम,
तज लोभ, मोह मद और काम।
धन, धाम साथ नहिं जाता है,
क्यों मन मुझ को भरमाता है।

गीत

इस टेढ़ी-मेढ़ी दुनिया में-
मैं सीधी डगर कहाँ पाऊँ।
मन की उलझन के धागों को,
किन हाथों से मैं सुलझाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

जञ्जीरों से जकड़ा जीवन,
काँटों से उलझ रहा आँचल।
टुकड़ों में बँटे हुए जग में,
निःसीम गगन कैसे पाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

तू गाता है अपनी धुन में,
मैं गुनती हूं अपने सपने।
अपने सुर को तेरे सुर से,
मैं कैसे आज मिला गाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

हर मानस का अपना घेरा,
जन कौन कहाँ सुखिया दुखिया।
परतों तल दबे हुए दिल में,
संवेदन कैसे उमड़ाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

यह अँध तमस कैसा फैला,
लीली जिस ने सब उज्ज्वलता।
भयभीत हुए मानव-मन में,
निर्भयता मैं कैसे लाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

घातक विष भरा हवाओं में,
घुलता है गहरे प्राणों में।
मानव बन जाए नीलकण्ठ,
वह मोहक स्वर कहाँ से लाऊँ।
इस टेढ़ी-मेढ़ी ... ...

सुन जिसे जगे शिव का ताण्डव,
हो काली का खप्पर चंचल।
मासूम निगाहों का क्रन्दन,
किन राग-धुनों में मैं गाऊँ।

इस टेढ़ी-मेढ़ी दुनिया में,
मैं सीधी डगर कहाँ पाऊँ

★ स्वर्ग–भूमि कश्मीर

गीत–१

यह स्वर्ग भूमि सुहाना चमन है,
यह गन्ध पूरित गुलों का सदन है।

★ आतंकवाद के कारण स्वर्ग भूमि कश्मीर की असह्य पीड़ा का लाक्षणिक चित्रण क्रमशः तीन गीतों में।

तूफ़ान आँधी ये खूनी हवायें,
तपन भर रही हैं बसंती फ़िज़ा में।
गढ़े क्रूर नाखून मृदु पाँखुलों पर,
किया आज माली ने घायल सुमन है।
यह स्वर्ग भूमि ... ...

रोती हैं कलियाँ सुबगतीं लताएँ,
गुम-सुम हुईं रक्त भीगी दिशाएँ।
उमड़ती समन्दर में आँसू की लहरें,
काँटों की धरती के उर में चुभन है।
यह स्वर्ग भूमि ... ...

किसी एक पक्षी ने विष बीज बोया,
दिया जन्म धरती ने मृत्यु लता को।
धुँधलाई विष से सूरज की किरणें,
शबनम में माहुर उगलता पवन है।
यह स्वर्ग भूमि ... ...

कोई फरिश्ता सागर को मथ कर,
ले आये भूमि पै उलफत का अमृत।
छिड़क दे धरा पर बहे प्यार धारा,
बदले फ़िज़ा जिस में घातक घुटन है।
यह स्वर्ग भूमि सुहाना चमन है,
यह गन्ध पूरित गुलों का सदन है।

गीत–२

आज फूलों की वादी है वीरान क्यों ?
दिखता मुझ को नगर है बियाबान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

यहाँ मन्दिर भी हैं और हैं मस्जिदें,
दूर इन से हुआ इन का भगवान् क्यों ?
आज फूलों की ... ...

ईश दे तू बता यह हुआ सब है क्या ?
हो गया है मनुज तेरा हैवान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

बंद कलियों की खुशबू पवन ले गया,
बे खबर सोया माली है नादान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

रुँधा पाँओं से है यह सुमन रो रहा,
खो गई इस के पौधे की पहचान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

खन-खना कर हैं सिक्के हमें पूछते,
तुल रहा चन्द सिक्कों में ईमान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

बालकों की हँसी आँगनों की खुशी,
गुम हुए ये अँधेरों में वरदान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

तुम ने काँटे बिखेरे चहूँ ओर जो,
पैर बिधने से होते परेशान क्यों ?
आज फूलों की ... ...

हो उजाला जले प्यार की जो शमा,
फिर कुहासों में भटकेगा इन्सान क्यों
आज फूलों की ... ...

हाथ छोड़ें न ममता का आँचल यदि
कोई खंजर जिगर से करे पार क्यों
आज फूलों की वादी है वीरान क्यों ?
दिखता मुझ को नगर है बियाबान क्यों ?

गीत–३

न जाने कैसे अम्बर में,
इक धूल भरी आँधी आई।

नभ में सूरज गोलक डूबा,
धरती पर अँध तमस फैला।
दिक् ज्ञान सभी का लुप्त हुआ,
चिति विवश चेतना अकुलाई।
इक धूल भरी आँधी आई।

झंझा के प्रबल थपेड़ों से,
जड़ मूल से वृक्ष उखड़ने लगे।
फूलों की पाँखें बिखर गईं,
कोमल कलिकाएँ मुरझाईं।
इक धूल भरी आँधी आई।

जो सघन वृक्ष धरती माँ के,
प्राणों की तपन बुझाते थे।
विह्वल व्याकुल वे लुड़क गए,
गई साथ छोड़ निज परछाई।
इक धूल भरो आँधी आई।

स्तम्भित से ठूँठ पड़े भू पर,
पहचान नहीं इन की कोई।
ये किस उपवन की शोभा थे,
है किस ने छीनी लुनाई।
इक धूल भरी आँधी आई।
धू-धू कर जलता प्रलय अनल,
आरक्त हुआ नीला अम्बर।
धरती की शान्त शिराओं में,
लावा उबला वह थर्राई।
इक धूल भरी आँधी आई।
पक्षी-शावक सब झुलस गिरे,
नीड़ों में ज्वाला भड़क उठी।
भर गया शून्य रौरव रव से,
घनघोर घटा घुमड़ी छाई।
इक धूल भरी आँधी आई।
रह-रह कर उठता चक्रवात,
कर गया ध्वस्त सुख के सपने।
मानव का भाग्य कहूँ इस को,
या देव तुम्हारी निठुराई।
इक धूल भरी आँधी आई।
छिन गई शान्ति अन्तर्मन की,
बस एक भाव डसता उर को।
निर्मल जल मानसरोवर पर,
छा जाए ना घातक काई।
न जाने कैसे अम्बर में, इक धूल भरी आँधी आई।

गीत

आज मैं कुछ फूल चुन लूँ।
आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

एक दिन भारत चमन में,
जो खिले थे फूल प्यारे,
उन की कोमल पाँखुलों को,
मातृ मंदिर में सजा लूँ।
आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

गगन से उतरे सितारे,
जो मशालों से जले थे।
तम धरातल का मिटाने,
शलभ सम जो मिट गए थे।
उन की मुक्ति के क्षणों को,
अमर गीतों में बसा लूँ।

आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

वीरता झाँसी महल में,
रानी बन कर अवतरी थी।
मुक्ति-शंख-निनाद जिस के-
से धरा गुंजित हुई थी,
घनक उस गम्भीर रव की,
अपने गीतों में रमा लूँ।

आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

शस्त्र सत्य अहिंसा से थी,
पलट दी सत्ता विदेशी।
प्यार की वेदी पै जिसने,
भेंट प्राणों की भी धर दी।
उस तपस्वी के चरण में,
सुमन श्रद्धा के चढ़ालूँ।

आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

फाँसी की डोरी जिन्हों ने,
चूम ली जय-माल सी थी।
जन-जनार्दन को जगाने,
जो जले बन सहस्र-रश्मि।
उन की पावन ज्योति से मैं,
जन-हृदय-दीपक जला लूँ।
आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

त्याग कर घर द्वार अपना,
तोड़ कर सब स्नेह बन्धन।
मातृ-भूमि स्वतन्त्र करने,
कर गए उत्सर्ग जीवन।
उन की निष्ठा, देश भक्ति,
क्षितिज-छोरों तक पहुँचा लूँ।
आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

बलि-शिला पर शीश जिन के
रक्त कुंकुम से सजे थे।
स्वतन्त्रता देवी चरण में
पुष्प पूजा के बने थे
वंदना करने मैं उन की,
कोटि-कल-कण्ठों से गा लूँ।
आज मैं कुछ फूल चुन लूँ, आज मैं कुछ गीत गा लूँ।

निराकार अम्बर

हे निराकार अम्बरवर !
तेरा ज्योति का सागर,
करता जगती को प्लावित,
बन स्रोत सृजन-शक्ति का।

तू रुदन हास क्रन्दन का,
साक्षी है, हर स्पन्दन का।
नि:सीम आधार धरा का।
स्थिरता का और गति का।

तेरे सीने में हिम भी,
तेरे सीने में लावा।
करते रहते हैं नर्तन,
कहीं सृष्टि कहीं प्रलय बन।

तू मौन, मुखर चेतन की,
शत-शत ध्वनियों को सुनता।
तू व्याप रहा कण-कण में,
जग-कर्त्ता भव-स्रष्टा सा।

क्रीड़ा करते गोदी में,
ये नन्हे-नन्हे बादल।
हैं ढाँप तुझे जब लेते,
बन कर तेरा आच्छादन।

इन की बाहों के घेरे,
तू इधर उधर कर झाँके।
तब चाँद का मुखड़ा तेरा,
तुझ को साकार बना दे।

मेरी ये दृष्टि दौड़े,
तेरी सीमा को पाने।
तू दूर-दूर चल जाता,
मन से भी तीव्र गति से।

तेरा यह नील कलेवर,
निर्लेप सदा है इक रस।
ना तुझ को प्रलय सुलाती,
ना तुझ को सृष्टि जगाती।

तू जगा हुआ या सोया,
किस गहन भाव में खोया।
तू शब्द ब्रह्म का मन्दिर,
तू सप्त स्वरों का संगम।

मैं देख-देख हर्षाऊँ,
गहरे बूढ़ूँ उतराऊँ।
तेरी इस गूढ़ यवनिका,
का ओर-छोर ना पाऊँ।

किस का तू उलटा प्याला,
जो उड़ेल रहा है हाला।
पी जिस को सृष्टि झूमे,
हो प्रेम-मगन मीरा सी।

तू चुपके छुपके रोता,
शबनम से धरा भिगोता।
तू हँसता रवि किरणों में,
सब के प्राणों में बस कर।

गेरू रंग चूनर ओढ़े,
तू माँ गौरी सा लगता।
ले बादल का बाघम्बर,
तू धरे रूप शंकर का।

घन-घोर घटा का गर्जन,
डिम-डिम डमरू सा बजता।
करता बम-भोला ताण्डव,
तू बनता मंच प्रलय का।

मणियों को कभी लुटाता,
पाषाण कभी बरसाता।
कभी रौरव रव तू करता,
कभी मौन रहे योगी सा।

न कोई समझ है पाया,
तेरी अभेद्य यह माया।
अपने में आप छिपा तू,
है एक भेद जगती का।

मानव मन

पल-पल रूप बदलने वाले जादूगर!
कभी तुम भूतों की सी-
मायाविनी आकृतियों का सृजन कर
भर देते हो असहनीय वेदना से मानव हृदय को
और निचोड़ने लगते हो नीम्बू के समान उस के जीवन रस को।
जीवन नभ के वायु देव!
कभी तुम आशा की सुरभित समीर से—
रंग-रंग के कल्पना कुसुमों की कोमल पाँखुड़ियाँ,
रूई की लोइयों के समान बिखेर अन्तस्-नभ में,
महका देते हो जीवन उपवन को
और सुवासित कर देते हो
सृष्टि का कण-कण।
भरते हो हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द
और दृष्टि में विचित्र चमक!
योगी, यति तपस्वी समद्रष्टा निःसंग!
कभी तुम करते हो जग-मंगल-कामनाओं
की वृष्टि से तन-प्राणों को शीतल
और उगा देते हो चेतना की धरती पर प्रेम और भक्ति के अंकुर।
दूसरे ही क्षण तुम—
लोभ, मोह और क्रोध की आग जला,
अपने ही शरीर के माँस, मज्जा और रुधिर से
करने लगते हो महाहोम!

तब विश्व-मंगल की कामना, समिधाओं के समान
स्वार्थ की आग में हो जाती हैं भस्म,
प्रेम और भक्ति के कोमल अंकुर
झुलस कर खो देते हैं अपना अस्तित्व।
विद्वेष के ताप से विदीर्ण हृदय, फड़फड़ाने लगता है—
प्यास से व्याकुल पक्षी-शावक सा।
तुम्हारी असीम क्षमता—
मनुष्य को देव दानव, मानव, महामानव बनाने में है सक्षम !
हे मेरे मन !
पारदर्शी दर्पण !
तेरे निर्मल काँच में होता है सत् चित् आत्मस्वरूप प्रतिबिम्बित ।
वेद वाणी में तू सारथि है आत्मा रथी का।
इन्द्रियों के अश्वों का नियमन कर
अपने रथी को ले जाते हो अभीष्ट मार्ग पर।
कभी कल्पना के पंखों पर बैठ
तुम उड़ते हो स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर
पृथिवी के आकर्षण विकर्षण से दूर बहुत दूर—
अन्तरिक्ष में दिव्य ज्योति से हो आवेष्टित।
कभी डुबकी लगाते हो अतल में
गहरे-गहरे पैंठ भर आते हो :
मोतियों, मणियों, सीपियों, घोंघों से
अपना दामन और बिखेर देते हो उन्हें मानव के सन्मुख।
रोक देते हो 'सत्' पथ पर बढ़ते उस के पाँव स्वर्ण शृंखला बन कर।
हे मेरे मन ! तेरी असीम शक्ति को
हैं शत-शत नमन

मृत्यु :

जीवन का परम सत्य

मृत्यु ! तेरा आँचल कितना सुखद !
तू आती है तपती दोपहरी को अपने में समेट,
देती है रात्रि की शान्तिदायिनी शीतलता।
लिखती है धरती की छाती पर,
अमिट लेख नीरवता और चुप्पी का।
तेरे ही हाथों होता है नव निर्माण,
तू करती है नित नूतन शृंगार सृष्टि का—
पुरातन धरा पर नये बीज बो कर।
जीवन की जुड़वाँ भगिनी !
ऊषा की पहली किरण के साथ,

तेरे बढ़ते कदमों की आहट,
सुनता है कोई मनीषी योगी यती।
यूँ तो संसार समझता है तुझे भयानक,
पर माँ काली और भैरव बाबा की पूजा,
तेरी ही अर्चना एवं आराधना है
और है संहार में छिपे सृजन के प्रति
श्रद्धा की अभिव्यक्ति।
क्रन्दन और चीत्कार को अनसुना कर,
तू करती है अट्टहास हमारी नादानी पर
और नाचती है अपनी मस्ती में,
परिवर्तन की लय और ताल पर।
हिम-शिखरों की फिसलन,
समुद्र में उभरते पर्वत,
तेरा ही पग संचार है।
युद्धों की विभीषिका में बजती है तेरी पायल।
शस्त्रों की झनझनाहट में
तेरी झाँझर की झंकार—
सुनता है कोई सत्य का द्रष्टा कवि!
उस के हृदय के ज्वालामुखी से
फूटता है भावों का लावा, क्रान्ति का संगीत—
"एक बार बस और नाच तू श्यामा"
बाढ़, भूकम्प, महामारी और तूफान,
अनगिनत हैं तेरे नाम!
पर एक नाम सब का जाना पहचाना :
"मृत्यु" जीवन का परम सत्य।

नाविक और नौका

एक नाविक, नौका पर चढ़ा ले जाता यात्रियों को उस पार
और लौट आता इस पार नौका के साथ,
उस पार के यात्रियों को ले कर।
एक रोज़, नौका ने कर दिया विद्रोह
बोली कैसा है तेरा मोह इस ओर के किनोर से
जो बरबस खींच लाता है तुम्हें इस तट की रेती पर
गुन गुनाने के लिए!
कैसी है मेरी नियति की विडम्बना!
सूखा हो या बाड़, शान्ति का मधुर संगीत या तूफानों का भैरव राग,
बीच धार प्रवाह के साथ, लहरों के थपेड़े सहते,
इधर से उधर और उधर से इधर हमेशा लुड़कते रहना।
अब की बार जाऊँ गी उस पार, फिर नहीं आऊँगी लौट कर।
नाविक हँसा नौका की नादानी पर।
बोला "तू नौका है, यात्री नहीं!
तुझे ले जाना है यात्रियों को, उन के अभीष्ट पड़ोवों पर,
एक दम निः संग! बिना रुके।"
जन्म और मृत्यु के दो किनारों के बीच—
जीवन की बहती धारा में, निरन्तर गतिशील है कर्मों की नौका।
जन्म और मृत्यु का संयोजक कर्म,
गति का अजस्र स्रोत! जीवन धारा का
शाश्वत प्रवाह! कभी रुकता नहीं।
"न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" गीता की वाणी का अमर सत्य!

एक सवाल आप से

क्या आप ने देखे हैं वे शिशु,
जो पत्थरों में अनगढ़े माणिक्य से,
अपनी आभा को स्वयं भी नहीं देख पाते,
जो धूल में लिपटे सुमन सदृश,
अपनी पहचान तक खो चुके हैं?

क्या देखी हैं कभी आपने
इन की भोली आँखें:
स्वप्न रहित, कल्पना की चमक से शून्य,
रूखी-सूखी दृष्टि से चारों ओर निहारतीं,
भूख की ज्वाला को पलकों में समेट,
निराशा के धुंधलके में भटकतीं?

झाँका है कभी आपने इनके
आशा विहीन मन में:
सुनता है जो दिन रात, सुरापियों की गालियाँ
और भद्दे अश्लील मज़ाक,
जलती है जहाँ हर पल
अरमानों की होली,
दहकते हैं अँगार छोटी-छोटी इच्छाओं
और आकाँक्षाओं के,
राख से ढका ज्वाला-मुखी अपने अवरुद्ध लावा से,
सोखता रहता है जहाँ जीवन का रस?

क्या आपकी दृष्टि पड़ी है कभी
उन हाथों पर:
जो ढाबों तन्दूरों पर, भोजन के मेजों को

साफ करते हुए, उठा लेते हैं—
झूठे बर्तनों में से, बची खुची सब्जी,
हड्डियों से चिपके माँस के टुकड़े,
रोटी का एक-आध निवाला,
गिलासों में बची शराब के कुछ एक घूँट, जो काफी होते हैं
इन के जीवन के सुनहरे प्रभात को
रात की स्याही में डुबोने के लिए?
माँ के प्यार और पिता के दुलार की मधुरता
नहीं महसूसी जिन के हृदयों ने
उन का शैशव और कैशोर्य भटकता है जिन वीरानों में
कभी पहुँचे हैं आप के पाँव वहाँ?
आइए देखिए:
बस्सों और ट्रेनों में,
अपनी बेबसी के गीत गाते, भीख माँगते,
चौराहों और मेलों में, जीवन से लापरवाह
बाजीगरों के बाँसों पर झूलते,
मौत के कुँओं में कूदते,
भीड़ में घुस अपने अभिभावकों के लिए जेबें काटते,
जुआरियों के अड्डों पर पान-सिगरेट जुटाते।
पुलिस के भय से छिपते, भागते, भूख-प्यास से व्याकुल,
चीथड़ों में लिपटे, गर्मी-सर्दी से जूझते।
कूड़े-कचरे के ढेरों पर बैठे जानवरों के सदृश,
कूड़े-कचरे में हाथों को चलाते,
अनावश्यक समझ फैंकी वस्तुओं को बटोरते—
टूटे खिलौने, लोहे और काँच के टुकड़े, पॉलीथीन के लिफाफे।
अपने वज़न से भी अधिक वज़न का बोझ उठाये,
भागते-गिरते, मालिकों के धक्के और ठोकरों की मार खाते

न जाने किन-किन नारकीय स्थानों पर भटकते ये बच्चे
अनजाने ही जवानी की सीमा रेखा तक पहुँच
घातक हथियारों से खेलने लगते हैं।
दिन के उजाले में अज्ञान के अँधेरे से आवृत
उगलते हैं समाज के प्रति घृणा विद्वेष की आग।
फूटती हैं हिंसा की लपटें, इन के हर रोम से।
इन्हें अपराधी बनाने वाला समाज,
रोटी-रोज़ी देने के स्वप्न दिखा कर
लौटा लाना चाहता है इन्हें जीवन के सामान्य रास्ते पर।
स्वप्न तो स्वप्न होता है, स्वप्न का उजाला आँख खुलते ही
बदल जाता है अँधेरे में
निराशा को और भी गहन बना कर।
इन्हें रोटी नहीं, इन्हें चाहिए ज्ञान का प्रकाश,
वह प्रकाश जो दे सकता है शक्ति
सचाई का सामना करने की।
इन्हें चाहिए विद्या का प्रभात, जो भर सकता है
चिर-स्थायी उजाला चेतना में।
जिस की लौ में ये ढूँढ़ सकते हैं ठीक रास्ता जीवन की मंज़िल का।
इन्हें आवश्यकता है :
माँ के प्यार भरे आँचल की,
जिस की शीतल छाया में ये समर्थ हो सकते हैं
भूख और प्यास के ताप को सहन करने में।
इन्हें ज़रूरत है पिता के दुलार भरे हृदय और सशक्त कंधों की,
जिस के संरक्षण में ये जूझ सकते हैं, अपमानों की आँधियों से।
क्या ये सब देंगे इन्हें आप?

मुखौटे

मुखौटों में छिपे चेहरों
की वास्तविकता को जानना
सम्भव नहीं आपके लिए।
बाहों की जकड़न,
हाथों का स्पर्श,
आपकी चेतना को हर लेगा
प्रेमी के स्पर्श सा।
उस जकड़न की कसन में
छटपटाते आप लुढ़क जाएँगे भूमि पर।
उस समय भी आप कह नहीं पाएँगे,
समझ नहीं पाएँगे, उनकी वास्तविकता,
तब आप इन अनुभूतियों से
बहुत दूर जा चुके होंगे।

आवाहन

जो बेबसी की लाश पर
बैठ जाते हैं कुत्तों की तरह,
मँडराते हैं चीलों की तरह,
और नोचते हैं माँस गीधों की तरह।
तोड़ डालो उन के दाँत,
जला दो उन के पंख,
और निकाल लो उन की आँखें।
काली माँ का खाली है खप्पर,
भर दो उसे उन के ताज़े खून से।
तृप्त करो माँ को।
देखो उस की आशा भरी आँखों में,
वह तुम्हें पुकार रही है—
अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए।

जादू की छड़ी तलाशता 'भविष्य'

ईश्वर सत्य है, सत्य ही ईश्वर है।
सर्वद्रष्टा ईश्वर को नकार,
सत्य के सूर्य को झूठ के पर्दे में छिपाने का प्रयास
सफल नहीं होता।
निरन्तर प्रसृत होने वाला ताप—
भले ही धीमा हो,
राख कर देता है अपने आवरण की हर तार,
चटक देता है आँखों के काले चश्में,
और निरावरण आँख बतलाती है
ललचाई दृष्टि का भींगापन।
कल जो बीत गया
वह दब गया भूत के गहरे गड्डे में,
खो दिया उसने अपना अस्तित्व,
कितनी भोंडी है यह सोच!
कल हमेशा अंकुरित होता है आज की धरती पर।
कल का बीज, आज का वृक्ष,
सुनाता है कहानी अपने पूर्व जन्म और कर्म की।
मुखौटे स्थायी नहीं होते,

उन से कुछ समय के लिये मुँह ढाँप कर
धोखा दिया जा सकता है दर्शकों को।
समय की खराद से घिसे मुखौटे
पारदर्शक हो जाते हैं।
और उन से झाँकते घिनौने चेहरे
और भी घिनौने दिखते हैं।
भूत के गर्भ में छिपे रहस्यों को
सत्य की कुदाल,
पारदर्शी यन्त्रों से केवल देखती ही नहीं,
अपितु खोद कर पटक देती है उन्हें धरातल पर
सब की आँखों के सामने।
उजागर हुई सचाई दबाती है कण्ठ:
दम्भ, लालच, भ्रष्टाचार और न जाने
किन-किन काले-गोरे, नामों के राक्षसों का,
जो भूत बन कर छिपे रहते हैं,
सिंहासनों के नीचे सुरक्षित तहखानों में।
कैसी है विडम्बना!
चोरों के संरक्षक ढूँढ़ते हैं चोरों को,
हाथों में हथकड़ियाँ ले कर।
दिन के उजाले में दिशा का भ्रम!
खो गया है ज्ञान पूर्व और पश्चिम का!
आने वाले कल के सूर्योदय की आशा में
ठहरा भविष्य,
तलाश रहा है उस जादू की छड़ी को,
जो प्रत्यक्ष कर दे पिटारे में छिपा रहस्य।

ठीक क्या है

ठीक क्या है, गलत क्या है, कौन करेगा इसका निर्णय ?
ज़रा सी भूल ने दे दिया जन्म एक शिशु को,
माँ का निर्जीव शरीर तैर गया नदी की धारा में,
लोक लज्जा के भय से।
हँसता रहा पुरुष नारी की मूर्खता पर
और देता रहा धन्यवाद विधाता को
जो रखता है छिपा कर उसके पाप को लोगों की नज़र से।
एक ने कहा, "स्त्री ने अच्छा नहीं किया।
पालन करती अपने शिशु का
और पकड़ लाती उस दुष्कर्मी को शहर के चौराहे पर,
निरावरण कर देती उसके पाप के कलेवर को।"
"किस के पास है इतना समय इस भीड़ भरे बाज़ार में
किसी की अच्छाई और बुराई की
समीक्षा करने को ?" कहा किसी अन्य ने।
"बाप डरपोक निकला।" "डरपोक नहीं समझदार निकला।
क्यों लेता भार अनचाहे शिशु का,
जबकि बच कर निकल जाने का रास्ता खुला था उसके लिए !"
कितनी ध्वनियाँ, शब्द और वाक्य बनती रहीं।
और विलीन होती रहीं महाशून्य में,
आम आदमी की मनोदशा व्यक्त करती हुई !
नारी ! सचमुच तू 'मूरख' है ! 'मूरख' थी !
शोषण तेरी नियति रहा है।
सतयुग हो या कलियुग, त्रेता हो या द्वापर, शोषण किया है—
बल ने निर्बलता का, कुटिलता ने सरलता का, स्वार्थ ने भावुकता का

दुष्यन्त और शकुन्तला,
दुर्योधन और द्रौपदी तो केवल नाम हैं
इस स्वार्थ-पूर्ण प्रवृत्ति को दर्शाने के लिए।
नारी! अब तो सम्भल .... ! पहचान अपने को!
जान अपना स्वरूप!
विद्रोह कर इस दुष्प्रवृत्ति के खिलाफ!
तू शिव की शक्ति शिवा है।
समस्या का समाधान मृत्यु नहीं, जीवन है।
संघर्ष है जीवन का दूसरा नाम!"
उभरा एक स्वर शून्य की गहराई से,
फैलता गया भविष्य की घाटियों में किसी गडरिये के मधुर संगीत सा
और फिर—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल पै,
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल पै॥"

मानवीय प्रवृत्तियों के समीक्षक, कवि प्रसाद की वाणी
हवा में तैरी, गुंजित हुई दिशाओं के कानों में।
नारी का निर्जीव शरीर चिन्दी-चिन्दी हो बिखरने लगा,
'विश्वास'! 'विश्वास'! शब्दों को,
विद्रूप अट्टहास के साथ, प्रतिध्वनित करता हुआ।
लावा उबला हृदय के ज्वालामुखी से
ताप सहा केवल नारी के अन्तश्चेतन ने।
भीषण विस्फोट का रौरव रव सुना केवल नारी के कानों ने!
नारी अपनी मूक चीत्कार को अपने में समेट फड़फड़ाते होंठों से
"ठीक क्या है?" पूछती रही महाशून्य से ... ...!

ठीक क्या है

ठीक क्या है, गलत क्या है, कौन करेगा इसका निर्णय ?
ज़रा सी भूल ने दे दिया जन्म एक शिशु को,
माँ का निर्जीव शरीर तैर गया नदी की धारा में,
लोक लज्जा के भय से।
हँसता रहा पुरुष नारी की मूर्खता पर
और देता रहा धन्यवाद विधाता को
जो रखता है छिपा कर उसके पाप को लोगों की नज़र से।
एक ने कहा, "स्त्री ने अच्छा नहीं किया।
पालन करती अपने शिशु का
और पकड़ लाती उस दुष्कर्मी को शहर के चौराहे पर,
निरावरण कर देती उसके पाप के कलेवर को।"
"किस के पास है इतना समय इस भीड़ भरे बाज़ार में
किसी की अच्छाई और बुराई की
समीक्षा करने को ?" कहा किसी अन्य ने।
"बाप डरपोक निकला।" "डरपोक नहीं समझदार निकला।
क्यों लेता भार अनचाहे शिशु का,
जबकि बच कर निकल जाने का रास्ता खुला था उसके लिए !"
कितनी ध्वनियाँ, शब्द और वाक्य बनती रहीं।
और विलीन होती रहीं महाशून्य में,
आम आदमी की मनोदशा व्यक्त करती हुई !
नारी ! सचमुच तू 'मूरख' है ! 'मूरख' थी !
शोषण तेरी नियति रहा है।
सतयुग हो या कलियुग, त्रेता हो या द्वापर, शोषण किया है—
बल ने निर्बलता का, कुटिलता ने सरलता का, स्वार्थ ने भावुकता का।

दुष्यन्त और शकुन्तला,
दुर्योधन और द्रौपदी तो केवल नाम हैं
इस स्वार्थ-पूर्ण प्रवृत्ति को दर्शाने के लिए।
नारी! अब तो सम्भल ....! पहचान अपने को!
जान अपना स्वरूप!
विद्रोह कर इस दुष्प्रवृत्ति के खिलाफ!
तू शिव की शक्ति शिवा है।
समस्या का समाधान मृत्यु नहीं, जीवन है।
संघर्ष है जीवन का दूसरा नाम!''
उभरा एक स्वर शून्य की गहराई से,
फैलता गया भविष्य की घाटियों में किसी गडरिये के मधुर संगीत सा
और फिर—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल पै,
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल पै।।"

मानवीय प्रवृत्तियों के समीक्षक, कवि प्रसाद की वाणी
हवा में तैरी, गुंजित हुई दिशाओं के कानों में।
नारी का निर्जीव शरीर चिन्दी-चिन्दी हो बिखरने लगा,
'विश्वास'! 'विश्वास'! शब्दों को,
विद्रूप अट्टहास के साथ, प्रतिध्वनित करता हुआ।
लावा उबला हृदय के ज्वालामुखी से
ताप सहा केवल नारी के अन्तश्चेतन ने।
भीषण विस्फोट का रौरव रव सुना केवल नारी के कानों ने!
नारी अपनी मूक चीत्कार को अपने में समेट फड़फड़ाते होंठों से
"ठीक क्या है?" पूछती रही महाशून्य से ... ...!

संस्कृति

कण-कण बिखरती विदेशी संस्कृति की आग,
सोख रही है धरती की शिराओं के रस को।
विकृत धरातल की कुरूपता,
ढाँप रही है नैसर्गिक सौन्दर्य को।
अज्ञात भय की परतों के नीचे दवा समाज,
कर रहा है प्रयास कुण्ठाओं की दलदल से उबरने का।
और तलाश रहा है पाँव तले की धरती—
नीचे और नीचे दलदल में धंस कर।
उधार ली बैसाखियों से
ताल मेल बैठाने के लिए
काट रहा है अपने ही अंगों को
लंगड़ा भविष्य।
कैसी है विडम्बना!
सीधी सी बात समझना नहीं चाह रही विभ्रान्त मेधा!
जल की बेली को धरती पर उगाने का प्रयास,
आँखें मूंद कर मार्ग की विकटता का अनुमान,
अर्थ-हीन होता है।
पर्वतों की ऊँचाई पर उगने वाले सुगन्धित फूल
मैदानों की गर्म हवा में झुलस कर
खो देते हैं अपनी मीठी सुगन्ध और प्राकृतिक सौन्दर्य।
अपनी धरती पर
अपनी संस्कृति के सूर्य की रश्मियाँ ही
सक्षम होती हैं सुगन्धित फूलों के
बीजों को अंकुरित करने में

युग पुरुष गाँधी

हे युग पुरुष, बापू गाँधी!
तू ने देखा था स्वप्न- राम राज्य का,
स्वतन्त्र भारत में मानवता के विकास का,
सत्य और अहिंसा के सिंहासन पर
भारत माँ की प्रतिष्ठा का।
उन्मुक्त गगन के नीचे भारत धरनी की अस्मिता का।
तू ने चाहा था— न्याय का राज,
प्रेम-पगा वर्ग-हीन समाज,
प्रजातन्त्र, स्वशासन और सुराज।
तूने चाही थी, संस्कृति के उजाले में—
गरिमामयी भारत जननी की पावनता,
श्रम की उजली धूप में दमकती मानवता।
पर कैसी हुई विडम्बना!
स्वतन्त्रता के खिलते चमन में पहले ही क्षण,
न जाने कैसे प्रवेश पा गया झूठ और हिंसा का राक्षस!
झुलसा दिया उसने प्यार के फूलों की पाँखों को,
द्वेष की दुर्गन्ध से दूषित साँसों की आग से।
अपने क्रूर हाथों से मसल दीं उसने
सत्य और निष्ठा की कोमल कलियाँ!
रामराज के स्वप्न को झुठला गया
उसके स्वार्थ की रात का अँधेरा।
अहिंसा का सिंहासन चिन्दी-चिन्दी हो उड़ गया
वोटों की राजनीति के तूफान में।
विकृत हो गया है समाज का चेहरा;
वर्गों, वर्णों, ऊँची नीची जातियों की लकीरों से।

पश्चिम की सभ्यता का राहु
लील गया है अपनी संस्कृति के उज्ज्वल सूर्य को।
अंग्रेज़ियत के पाले से ठिठुर रही है भारतीयता!
भारत माता पहचान नहीं पा रही
अपने ही भोले शिशुओं का प्यारा मुखड़ा!
बापू ...! तेरा नहीं, सत्य हो रहा है मैकाले का स्वप्न!
अपना देश बन गया है बिदेश!
अपनी भाषा, अपना वेष लगते हैं हीन!
अपने जन दिखते हैं रूढ़िवादी और दीन!
हँसते हुए उपवन की फिज़ा को
विषैला कर गया है वंचना की हवा का झोंका!
कुटीर-उद्योग पादपों की फुन्गियों को
कुतरने लगे हैं विदेशी सौदागर सुग्गे!
धन के व्यापारियों ने बेच दिया है स्वाभिमान और आत्मगौरव!
अन्धा दिखा रहा है रास्ता बुझा हुआ दीपक हाथ में ले कर
दिशा भ्रम में खो गई है उसकी चेतना!
बापू! जिस नाव को तुम अपने जीवन की बलि दे कर
लाए थे तट पर
उसे तेरे नाम से धकेल रहे हैं बीच धार तेरे ही अनुयायी
भँवर में फँसी नाव कब आएगी इस पार!
कब भूख और लाचारी के घेरे से मुक्ति पाएगी मानवता
कब उबरेगा जन-मानस विदेशी संस्कृति के व्यामोह की दल-दल
'प्रश्न' नहीं ... ..., 'भय' है
अपनी अस्मिता के लुप्त होने का।
यह भय मेरी चेतना के सूर्य को आच्छादित कर रहा है,
बादलों की घनता सा!